साहित्य-समीक्षा

(आलोचनात्मक १० निबन्धों का संकलन)

सम्पादक

प्रोफ़ेसर सरनदास भनोत

संस्कृत विभाग

हंसराज कॉलेज, दिल्ली

क्रम

दो शब्द

प्रौढ़ अवस्था के छात्रों के हृदय में साहित्य के अध्ययन की प्रबल प्रेरणा का होना स्वाभाविक है। साहित्य के जिन विविध रूपों के नमूने बानगी के तौर पर उन्हें छोटी अवस्था में दिए जाते हैं, बड़े होकर उनके बारे में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करने की इच्छा होने लगती है। मानसिक स्तर के क्रमशः उन्नत हो जाने से आलोचना की प्रवृत्ति अंकुरित होने लगती है; बुद्धि साहित्य के मूल्यांकन की ओर आकृष्ट होने लगती है। इस अवस्था में यदि छात्रों का साहित्य-समीक्षा के व्यापक नियमों से परिचय करवा दिया जाय तो इससे उन्हें साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन में अभीष्ट सहायता मिल सकती है। प्रस्तुत प्रयास में यही प्रेरणा निहित है।

इस संकलन में काव्य, उपन्यास और नाटक आदि साहित्य के विविध रूपों का समुचित प्रदर्शन करने का प्रयत्न किया गया है। भाव और शैली के वैचित्र्य की दृष्टि से एक ही लेखक के मन्तव्यों की अपेक्षा एक से अधिक आलोचकों के विचार उपस्थित करना हितकर समझा गया है। चूंकि साहित्य के विविध रूप अपनी-अपनी भिन्नता रखते हुए भी अनेक मूल तत्वों में समान हैं, इनकी आलोचना में यत्र-तत्र पुनरुक्ति का आ जाना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिये नाटक और उपन्यास ले लीजिये। इन दोनों की पृथक् सत्ता स्पष्ट है; पर साथ ही इस बात से भी इनकार नहीं हो सकता कि इन दोनों की निर्माण-सामग्री मुख्यांश में एक-सी है। इसी कारण से इन दोनों की आलोचना अनेक स्थलों पर एक दूसरे का छोर पकड़े हुए है।

हमारी वर्तमान आलोचना-पद्धति हमारे आधुनिक साहित्य के अन्य रूपों की तरह पश्चिमी साहित्य—विशेष रूप से अंग्रेजी साहित्य—के प्रभाव की ऋणी है। यहां हमारे पास पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तों की तुलना के लिये अवसर नहीं। हां, इतना अवश्य कहना होगा कि आलोचना की दोनों ही प्रणालियां अपना-अपना विशेष और पृथक् दृष्टिकोण रखती हैं। दोनों का आधार सत्य और सौंदर्य की खोज है। नवीन और युग के अनुकूल होने के कारण आलोचना की नवीन शैली भी सर्वथा ग्राह्य है।

उपरोक्त कारण से पुस्तक-शरीर में अंग्रेजी के उद्धरणों तथा पर्यायों का आ जाना स्वाभाविक है। अंग्रेजी से अपरिचित छात्रों के लिये इससे कोई बाधा नहीं होगी और जानकारी रखने वालों के लिये भाव और अर्थ की स्पष्टता में सहायता अवश्य हो सकती है।

जिन विद्वान् लेखकों के निबन्धों का मैंने इस संग्रह में सकलन किया है उन सब के प्रति मैं हृदय से आभारी हूं।

हंसराज कालेज,
दिल्ली

सरनदास भनोत

: १ :

समाज और साहित्य

(राय बहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए०)

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छान-बीन करते जाइए, उतनी ही नई-नई शृंखलाएं विचित्रता की मिलती जायंगी। कहां एक छोटा-सा बीज और कहां उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष! दोनों में कितना अन्तर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, तनिक सोचिए तो सही। एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या-क्या भरा हुआ है। उस नाम मात्र के पदार्थ में एक बड़े-से-बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से संपन्न होकर वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने-अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अन्त में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जिसे हम मृत्यु कहते हैं। पर वहीं उनकी समाप्ति नहीं है, वहीं उनका अन्त नहीं है। वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरन्तर तत्पर हैं। मरकर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग

देते हैं। यों ही वे जीते-मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जांच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छान-बीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं, वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं, तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जगली अवस्था में थे। सृष्टि के आदि में सब आरम्भिक जीव समान ही थे, पर सब ने एक-सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही, उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अन्त में प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा, वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया, उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। सारांश यह है कि आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सब में परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था, वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नए विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीजों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज़ की आवश्यकता आ उपस्थित होती है, तब मस्तिष्क

को उस कठिनता को हल करने के लिये कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ-ही-साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात् ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और संकुलता होती गई, त्यों-त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है, उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती; अथवा यह कहना चाहिये कि सभ्यता की उन्नति साथ-ही-साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय संबंध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असम्भव है। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्य-रूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना-बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलंबित है; अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री

निकाल कर समाज को सौंपता है, उसके संचित भंडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता-निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब कहला सकता है। जैसे उसकी सामाजिक अवस्था होगी, वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है; वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति संरक्षित रखना है। पहले-पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं, उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे-धीरे युद्ध के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकाण्ड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक श्रृंखला हो जाती है जिससे साहित्य के विशेष-विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुंचाने के लिये साहित्य-रूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का यह भोजन होगा, वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृत्ति के अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है, उसी

प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों पर प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीत-प्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिए निरन्तर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहनेवाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम-क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है; और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहां इसके प्रतिकूल अवस्था हो, वहां आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया, तब फिर उसकी चिंता ही कहां रह जाती है! भारत-भूमि को प्रकृति-देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ाक्षेत्र समझना चाहिए। यहां सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहां प्रचुरता है। भूमि इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य-पदार्थ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहां के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से जीव जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है, अथवा विलासप्रियता में फंस कर इन्द्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहां का साहित्य धार्मिक विचारों या शृङ्गार रस के काव्यों से भरा हुआ है; अस्तु, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भांति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आगई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया, यूरोपीय मस्तिष्क स्वतन्त्रता देवी की आराधना में रत हुआ, तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्य-क्रांति का सूत्रपात रूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़िनी के लेखों ने बोया? भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहां की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब-जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्ध धर्म और आर्यसमाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिंदू-धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए, तब दोनों में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिये कबीर, नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक उन्नति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य-समाज का हित-विधायक मित्र है, वह क्या हमें राष्ट्र-निर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है, यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर है, तब हमारा प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

अब तक वह जो हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस संस्कृत देश की स्थिति एकान्त रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक वैभव का पारावार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघ-शक्ति का सञ्चार जैसा चाहिए, वैसा नहीं हो सकता और यह अब तक आलसी और सुख-लोलुप बना हुआ है। परन्तु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकान्तता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मल कर दिया है; और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित, प्रतिक्रियमाण करेगा, तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका

कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय बात यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करनेवाला, संजीवनी शक्ति का सञ्चार करनेवाला, चरित्र को सुन्दर सांचे में ढालनेवाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करनेवाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है। पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं। यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आंखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

मैं थोड़ी देर के लिए आपका ध्यान हिन्दी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूं। यद्यपि भाषा के दोनों अङ्गों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है, पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है। उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है, वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण

नहीं, बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात या व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिए कोई मत संबंधी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिए केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बांटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें कोई मतभेद नहीं कि जो हिन्दी गद्य के लिए ग्रहण की गई है, वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है।

यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली के प्रान्त की है, पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रान्तों में भी हो गया है। अतः वह उन प्रान्तों के शब्दों का भी अभावपूर्ति के निमित्त अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्मस्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिए शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रान्त से, जहां उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द-मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने

अंतःकरण में भावों की अनेक-रूपता का विकास करे।

ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता है, वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उसमें सारे संस्कृत कोषों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर शब्द रखे गए हों, और चार-चार अंगुल के समास बिछाए गए हों। पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे, जो अपरिचित होने के कारण अंतःकरण में जल्दी न धसेंगे, वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोल-चाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों के बीच, जो नए-नए भावों का विकास करने में समर्थ हो, जो इनके जीवन-क्रम को उलटने-पलटने की क्षमता रखता हो, वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दण्डी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरम्भ थोड़े ही दिनों से हुआ है, अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है, पर आशा है कि उचित पथ अवलम्बन द्वारा वह धीरे-धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कविताएं और पुस्तकें लिखी जाती हैं, वे इस बात का ध्यान रख कर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है। उसके

वाक्यों का रूप-रंग कुछ निराला है। किसी साधारण गद्य को नाना छंदों में ढाल देने उसे ही से काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली व्रज भाषा में चली आ रही है, उसका बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में रखना पड़ेगा। भाव वैलक्षण्य के संबंध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं, वे कविता के विषय में भी ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या? खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ कार्यक्षेत्र में जो अनधिकार-प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है, वह ठीक नहीं। कविता का अभ्यास आरम्भ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नए पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति-ग्रन्थों का देखना, रस, अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है।

: २ :

साहित्य का प्रयोजन

(डाक्टर देवराज)

मानव-जीवन के कुछ प्रश्न ऐसे हैं, जो प्रायः प्रत्येक युग में पूछे जाते हैं और जिनका समाधान, प्रत्येक युग को स्वतन्त्र रूप में ढूंढ़ना पड़ता है। प्रसिद्ध है कि दर्शन तथा आचारशास्त्र के अनेक प्रश्न इस कोटि के होते हैं; 'साहित्य का प्रयोजन क्या है?' यह प्रश्न भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। बात यह है कि साहित्य के प्रयोजन तथा जीवन के प्रयोजन या अन्तिम लक्ष्य की समस्याएँ एक दूसरे से असंबद्ध नहीं हैं, और जहां साहित्य-दर्शन जीवन-दर्शन से प्रभावित होता है, वहां वह जीवन-दर्शन के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य (Data) भी उपस्थित करता है। यही कारण है कि विभिन्न साहित्य-विचारक उसके स्वरूप एवं प्रयोजन के विषय में एक दूसरे से इतना विवाद, इतनी कटु आलोचना-प्रत्यालोचना करने लगते हैं।

अस्तु, अब हम अपने प्रश्न को कुछ अधिक मूर्त्त रूप देने की कोशिश करें। क्या मानवता के विशाल जीवन के लिए

साहित्य की कोई उपयोगिता है? क्या वह मानव-सभ्यता को किसी तरह आगे या पीछे बढ़ाता है? साहित्य का जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण अंगों, मनुष्य के आचार-विचार, उसकी धर्म-भावना एवं जीवन-दृष्टि से क्या सम्बन्ध है? अथवा यह मानना चाहिए कि साहित्य मात्र व्यक्तिगत आनन्द या मनोविनोद की वस्तु है और उसका मनुष्य के सामूहिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है? यहां कतिपय पुराने प्रश्न बड़े उग्र रूप में सामने आ जाते हैं, जैसे कला और नैतिकता (Art and Morality) के सम्बन्ध का प्रश्न।

जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया इन प्रश्नों पर मत-विभिन्नता का अन्त नहीं है। क्रोचे के अनुयायी अमेरिकन आलोचक स्पिनगार्न ने 'नवीन आलोचना' शीर्षक निबन्ध में यह बतलाते हुए कि नई समीक्षा ने किन-किन अन्धविश्वासों का परित्याग कर दिया है, लिखा है :—

We have done with all moral judgment of an......... ..Some said that poetry was meant to instruct; some, merely to please; some, to do both. Romantic criticism first enunciated the principle that art has no aim except expression; that its aim is complete when expression is complete; that 'beauty is its own excuse for being.'

अर्थात् कला की परीक्षा नैतिक दृष्टि से करना अन्ध परम्परा

है, जिसे अब हम छोड़ चुके हैं। काव्य-साहित्य का उद्देश्य न केवल शिक्षा या केवल आनन्द देना है, न दोनों; कला का एक ही लक्ष्य है, अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के पूर्ण होते ही कला का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है; सौन्दर्य स्वयं अपना साध्य है, उसके अस्तित्व के प्रयोजन की खोज वांछनीय नहीं है। आगे स्पिनगार्न कहता है कि सौंदर्य की दुनिया सत्य और शिव दोनों क्षेत्रों से अलग है और कला को नीति-विरोध कहना वैसा ही है जैसा किसी गीत या इमारत को आचार-शून्य घोषित करना। इसी प्रकार ए० सी० ब्रेडले ने अपने प्रसिद्ध 'कविता कविता के लिए' निबन्ध में यह प्रतिपादित किया है कि काव्य-कला स्वयं अपना साध्य है, वह धर्म, संस्कृति, नैतिक शिक्षा, मनोवेगों को मृदु बनाने आदि का साधन नहीं है।

दूसरे विचारकों ने उक्त मान्यताओं के ठीक उलटे उद्गार प्रकट किये हैं। प्रसिद्ध उपन्यासकार टॉल्स्टॉय का मत है कि कला की मुख्य कसौटी नीति और धर्म है, अर्थात् यह विचारणा कि कहां तक उसका जीवन पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है। वे कहते हैं—In every age and in every human society there exists a religious sense of what is good and what is bad common to that whole society, and it is this religious conception that decides the value of the feelings transmitted by

art.※ मैथ्यू आर्नल्ड का विचार है कि 'जो काव्य, नैतिकता के प्रति विद्रोही है वह स्वयं जीवन के प्रति विद्रोही है, और जो काव्य नैतिकता से उदासीन है, वह स्वयं जीवन से उदासीन है।'×

यहां प्रश्न उठता है कि उक्त दो विरुद्ध मतों में से किसे स्वीकार किया जाय। इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इन विरोधी मान्यताओं की परीक्षा कैसे की जाय; किस पद्धति से, किस आधार पर, उक्त विवाद का निपटारा किया जाय ?

सम्भवतः कुछ लोग जिन्होंने तर्कशास्त्र पढ़ा है, सोच सकते हैं कि दो विरुद्धों के बीच तीसरी स्थिति सम्भव नहीं है— "परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः।" किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। कुछ परीक्षकों ने एक तीसरी ही कोटि के विचार प्रकट किये हैं। आधुनिक काल का प्रसिद्ध कवि और आलोचक टी० एस० इलियट पहली सांस में कहता है:—

And certainly poetry is not the inculcation of morals, or the direction of politics, and no more is it religion or an equivalent of religion,

---

※ दे० What is Art (Oxford), पृ० १२८-१२९।

× A Poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against *life*: a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards *life*.

except by some monstrous abuse of words...... ..
अर्थात् शब्दों का भयंकर दुष्प्रयोग किये बिना यह नहीं कहा जा सकता कि कविता नीति की शिक्षा, राजनैतिक मार्ग-दर्शन अथवा धार्मिकता या उसका समकक्ष कुछ और है। किन्तु आगे चलकर वह इस एकांगी सम्मत्ति में संशोधन कर देता है।

On the other hand poetry as certainly has something to do with morals, and with religion, and even with politics perhaps, though we cannot say what. (The Sacred Wood, 1928 Edn.) अर्थात् कविता का नैतिकता, धर्म-भावना और सम्भवतः राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध अवश्य है, यद्यपि हम नहीं जानते कि वह सम्बन्ध क्या है। डा० आई० ए० रिचर्ड्स का मत भी कुछ इसी प्रकार है।* आचार्य मम्मट ने काव्य के अनेक प्रयोजन बतलाते हुए इस बात पर विशेष गौरव दिया है कि वह आनन्द के लिए (सद्यः परनिर्वृत्तये) है; साथ ही उनका कथन है कि वह कांता-संमित उपदेश के लिए भी है। मेरे

---

*तु० की० Culture, religion, instruction *in some special senses*, softening of the passions, and the furtherance of good causes may be directly concerned in our judgments of the *Poetic* values of experiences. (प्रथम इटैलिक हमारे हैं।) Principles, पृ० ७४।

विचार में कांता-संमित विशेषण का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि मम्मट, इलियट की भांति, यह ठीक-ठीक बताने में असमर्थ हैं कि किस प्रकार काव्य-कला नैतिक शिक्षण का कार्य सम्पन्न करती है।

रिचर्ड्स की 'किसी विशिष्ट अर्थ में' (in some special senses) व्यंजना भी इसी असमर्थता की द्योतक है।

मैं समझता हूं कि उन परीक्षकों की तुलना में जो काव्य और नैतिकता एवं धर्म-भावना में कोई सम्बन्ध नहीं देखते, दूसरी श्रेणी के विचारक जिनमें आर्नल्ड तथा टॉल्स्टॉय के अतिरिक्त प्लेटो, अरस्तू, होरिस, दान्ते, मिल्टन, शेली आदि पश्चिम के तथा भरत, आनन्द-वर्द्धन, अभिनवगुप्त आदि भारत के विचारक सम्मिलित हैं, सत्य के अधिक समीप हैं। साथ ही मेरा विश्वास है कि काव्य के नैतिक-धार्मिक तत्त्वों का निरूपण युग-विशेष के स्वीकृत नीतिशास्त्र तथा धर्म-भावना द्वारा ही नहीं हो सकता। जिस अन्तर्दृष्टि पर काव्य-साहित्य निर्भर करता है, वह प्रचलित नीतिवाद से आगे और कभी-कभी उसके विरुद्ध भी चली जाती है। इस दृष्टि से इलियट और मम्मट की यह भावना कि काव्य और नैतिकता का सम्बन्ध ठीक-ठीक व्याख्येय नहीं है, वस्तुस्थिति के अधिक निकट है। आप कहेंगे कि मैंने ऊपर की सम्मति सिद्धान्तवादी (Dogmatic) ढंग से प्रकट कर दी है, उसे स्वीकार करने का, कोई कारण उपस्थित नहीं किया है। वास्तव में अवशिष्ट लेख में हमें इन कारणों का ही निरूपण करना है। साहित्य

का प्रयोजन क्या है, इसका सभ्यता, नैतिकता या धर्म-भावना से क्या सम्बन्ध है—इसका उचित उत्तर पाने के लिए हमें साहित्य के स्वरूप की कुछ जानकारी होनी चाहिए। साहित्य के सम्बन्ध में प्रस्तुत विषय से लगाव रखने वाला मुख्य प्रश्न यह है—साहित्य की विषय-वस्तु क्या है, साहित्य में किस चीज को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की जाती है ?

अभिव्यंजनावादी का यह कथन कि साहित्य अभिव्यक्ति या अभिव्यक्ति की कला है, साधारण लोगों को ही नहीं, दार्शनिकों को भी एक पहेली मालूम पड़ता है।

क्रोचे के दार्शनिक सिद्धान्त भी कुछ ऐसे ही हैं। अभिव्यंजनावाद का एक मात्र सत्य पहलू यह सिद्धान्त है कि साहित्य या कला-विशेष पदार्थों की सफल या स्पष्ट अभिव्यक्ति, उन्हें अनुभव में मूर्त कर देना है। किन्तु इस सिद्धान्त का यह परिणाम कि प्रत्येक वस्तु—रेल के इंजन का धुआं अथवा बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण—समान रूप से कला का विषय बन सकती है यदि कलाकार उसे अनुभव में पूर्णतया मूर्त कर सके, उसे यथार्थवाद का एक उग्रतम रूप दे देता है और उसका हमारी मूल्य-भावना (Sense of values) से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।

एक दूसरा प्रचलित एवं पुराना मत यह है कि साहित्य में हमारी संवेदनाओं (Feelings) तथा आवेगों (Emotions) की अभिव्यक्ति होती है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को वेगपूर्ण संवेदनाओं का सहज उद्गार (Spontaneous outburst

of powerful feelings) अथवा शान्त क्षणों में स्मृत आवेग (Emotion recollected in tranquility) वर्णित किया है। टॉल्स्टॉय के अनुसार कला का जन्म तब होता है जब एक व्यक्ति अनुभूत आवेग को दूसरों तक पहुंचाने में समर्थ होता है। भारतीय रसवाद के अनुसार विभाव, अनुभावादि के द्वारा रहस्यमय स्थायी-भावों की अभिव्यक्ति को रस और रसमय वाणी को काव्य कहते हैं।

साहित्य सम्बन्धी उक्त मान्यताएं बड़े-बड़े विचारकों के नामों से संबद्ध हैं, और इनके पीछे दीर्घ-परम्परा का बल है। मेरे पास इतना अवकाश नहीं है कि इन मान्यताओं का लम्बा विवरण और विस्तृत परीक्षा प्रस्तुत करूं। संक्षेप में मैं आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूं कि स्वयं कवियों की तथा आलोचकों और रसज्ञ पाठकों की एक बड़ी संख्या यह मानती चली आई है कि साहित्य में मनुष्य के हृदय की अथवा उसके भीतर की किसी चीज़ की अभिव्यक्ति होती है। उस भीतरी चीज़ को किसी ने संवेदना, किसी ने आवेग और किसी ने कुछ और नाम दिया है।

यदि मैं आपसे कहूं कि मैं इन मान्यताओं को बहुत दूर तक भ्रम-मूलक मानता हूं, तो आप सहसा सतर्क हो जाएंगे, और मेरे प्रति असहानुभूति का भाव धारण कर लेंगे। पर मैं आप से निवेदन करूंगा कि आप अधीर न हों और इन मान्यताओं के कतिपय निष्कर्षों पर तटस्थ भाव से विचार करें।

यदि साहित्यमात्र मेरे भीतरी आवेगों, संवेदनाओं अथवा स्थायी भावों की अभिव्यक्ति है, तो यह स्पष्ट है कि मुझे साहित्य सृष्टि के लिए अपने आवेष्टन—अपने चारों ओर के स्त्री-पुरुषों तथा शेष संसार से सम्पृक्त होने की, उनमें अभिरुचि लेने की बिलकुल जरूरत नहीं है। मेरा काम, साहित्यकार होने की हैसियत से केवल यह है कि मैं अपने भीतर झांकूं और अपनी भीतरी प्रतिक्रियाओं को छन्दोबद्ध या गद्यात्मक भाषा में प्रकट कर दूं। उक्त मान्यताओं का ही दूसरा निष्कर्ष यह भी है कि कलाकार को संसार के मनीषी विचारकों के चिन्तन से किसी प्रकार का लाभ उठाने की आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसका लक्ष्य उन आवेगों या संवेदनाओं को व्यक्त करना है, जो पहले से ही उसके भीतर मौजूद हैं। इसीलिए कुछ लोगों का—और उनमें संभवतः उपन्यासकार जैनेन्द्र भी हैं—विचार है कि कलात्मक सृष्टि के लिए विशेष शिक्षा-दीक्षा आवश्यक नहीं है, कलाकार अपनी जन्मजात प्रतिभा के बल पर साहित्य-सर्जना करता है।

आपको शायद यह परिणाम अप्रिय लगे; आप में से कुछ यह भी कह सकते हैं कि मैंने उक्त सिद्धान्त के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया है; क्योंकि रसवाद स्थायी भाव की अभिव्यक्ति में विभावों की—अर्थात् आवेष्टन (Environment) की जिसमें नर-नारी सम्मिलित हैं—उपादेयता स्वीकार करता है। मेरा उत्तर है कि रसवाद के अनुसार भी, जो इन सिद्धान्तों में सबसे पुष्ट

है, आवेष्टन के सम्पर्क का स्थान नितांत गौण है, और वहां प्रायः किन्हीं भी आलंबनों एवं उद्दीपन विभावों से काम चल सकता है। वर्ड्सवर्थ तथा टॉल्स्टॉय के विवरणों में आवेष्टन का इतना भी महत्त्व नहीं है, और डा० रिचर्ड्स के अनुसार अन्तर्वृत्तियों का समंजस संगठन ही कला का एक मात्र लक्ष्य है।

यहां प्रसंगवश मैं भारतीय रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक बात कह दूं। उसने आवेग-संवेदनावाद के एक बड़े दोष के परिहार का यत्न किया है। शुद्ध संवेदना या आवेग, अन्तःप्रवृत्ति (Impulse) या स्थायी भाव की अभिव्यक्ति संभव नहीं है, इस पर रसवाद के आचार्यों का ही ध्यान गया और उन्होंने विभावादि को अभिव्यक्ति का साधन कथन किया। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार संवेदना और आवेग, विशेषतः द्वितीय, शरीर की आकुलित अवस्था का नाम है जिसमें आमाशय तथा उसके पार्श्ववर्ती अंगों में विशेष हलचल होने लगती है। इस शारीरिक आकुलता एवं हलचल को आवेगयुक्त पुरुष अन्ध-भाव से महसूस करता है; पर यह कहना निरर्थक है कि वह उसे समझता है, और इसीलिए वह उसे वाणी द्वारा अभिव्यक्त करने में भी असमर्थ होता है। वस्तुतः जब कोई व्यक्ति अपने क्रोध को वाणी से प्रकट करता है, तो वह अपने शारीरिक परिवर्तनों का विवरण नहीं देता, अपितु उन प्रतिकूल परिस्थितियों का वर्णन करता है, जो उसके क्रोधोदय का कारण हुई हैं—जैसे क्रोध-भाजन व्यक्ति के दुर्व्यवहार अथवा हानिकारक व्यापारों का।

इस प्रसंग को हम यहीं छोड़ें। मेरा तात्पर्य यह है कि साहित्य-मात्र किसी भीतरी वस्तु की अभिव्यक्ति नहीं होता। अतः साहित्य का प्रयोजन अन्तःप्रवृत्तियों का संगठन या समंजसकरण भी नहीं है, जैसा कि डा० रिचर्ड्स का मत है। वस्तुतः विज्ञान की भांति साहित्य भी आवेष्टन (Environment) के प्रति प्रतिक्रिया है और उसका उद्देश्य मनुष्य का आवेष्टन से विशेष सम्बन्ध स्थापित करना है। अवश्य ही विज्ञान और साहित्य नामक प्रतिक्रियाओं में भेद है और इनके द्वारा स्थापित मनुष्य और आवेष्टन के सम्बन्ध भी भिन्न हैं। विज्ञान का क्षेत्र भौतिक आवेष्टन है जहां वह मुख्यतः कार्य-कारण सम्बन्धों का उद्घाटन या स्थापन करता है; इसके विपरीत साहित्य का क्षेत्र मुख्यतः मानव जीवन है जहां वह शुभ-अशुभ, सुन्दर-असुन्दर आदि तत्त्वों को ढूंढता और उनसे मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। विज्ञान मनुष्य को भौतिक आवेष्टन का आधिपत्य देता है, साहित्य उसे मानव-जीवन के सौन्दर्य का उपभोग; विज्ञान आवेष्टन को हमारा बना देता है, साहित्य उसे हमारे अस्तित्व का अंश। साहित्य में जड़ प्रकृति भी सुन्दर और सजीव बन कर हमारे जीवन या अस्तित्व का अंग बन जाती है।

आप पूछेंगे कि हमारी इस स्थापना का प्रमाण क्या है? मेरा-उत्तर है—कलाकार के साहित्य-सृष्टि के क्षणों का सतर्क निरीक्षण कीजिए और आप देखेंगे, हमारा मत ही वस्तुस्थिति का

सच्चा विवरण प्रस्तुत करता है। शकुन्तला के सौन्दर्य अथवा दुष्यन्त के मानसिक द्वन्द्व का वर्णन करते समय कालिदास की अभिरुचि एवं चिन्ता का केन्द्र क्या होता है? अवश्य ही शकुन्तला का शरीर और दुष्यन्त का मन, न कि अपने भीतरी विकार। इसी प्रकार 'रामचरित मानस' की वर्णना का विषय, उसकी कला-पद्धति का केन्द्र राम हैं न कि तुलसी। यह कहना कि 'मानस' लिखते समय तुलसी का ध्यान राम की लीलाओं पर न होकर अपनी संवेदनाओं, आवेगों या भाव-पद्धति की ओर था, वस्तु-स्थिति का सही उल्लेख न होगा। इसी प्रकार गोर्की के माँ उपन्यास में अभिव्यक्ति का विषय रूस के कुछ मजदूरों का जीवन है, स्वयं गोर्की के स्थायी भाव या आवेग नहीं।

यहां एक प्रश्न उठता है। यदि साहित्य का काम आवेष्टन-गत सौन्दर्य-असौन्दर्य अर्थात् मूल्यों का उद्घाटन है, तो विचारकों और स्वयं साहित्यकारों को यह भ्रम क्यों होता है कि वे किसी भीतरी चीज को अभिव्यक्ति दे रहे हैं? उत्तर यह है कि आवेष्टन या बाह्य जगत् भी हमें प्रतीति के रूप में ही प्राप्त होता है—कलासृष्टि के समय वह हमें चित्तवृत्ति के रूप में ही उपलब्ध होता है, इसीलिए यह भ्रम होता है। वास्तव में काव्य-साहित्य का विषय आन्तरिक आवेग न होकर वे अर्थवत (Significant) छवियां हैं जो हमारे अन्तःकरण ने बाह्य जगत् में से चयन करके संचित कर रक्खी हैं। दूसरे शब्दों में

साहित्य आवेष्टनगत अर्थवत्ता या मूल्यों का ही उद्योतन अथवा विवृति करता है।

यहां हम आवेष्टन शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में कर रहे हैं। हमारे आवेष्टन में भौतिक प्रकृति की ही नहीं, नर-नारी और उनके व्यापार ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानवता के सब प्रकार के विचार-विकार, संशय-सन्देह, सुख-दुःख, आशा-आकांक्षाएं, मानवता का सम्पूर्ण इतिहास और स्मृतियां सम्मिलित हैं। इस प्रकार राम-कृष्ण तथा बुद्ध और ईसा की जीवनियां उनके भक्तों के ही नहीं, हमारे सांस्कृतिक आवेष्टन का भी महत्त्वपूर्ण भाग बन गई हैं। यही नहीं, गीतिकाव्य में स्वयं हमारे व्यक्तिगत सुख-दुःख तथा मनोविकार ज्ञान या अनुभूति का विषय बनकर हमारे सामने आते हैं और हम उन्हें वैसे ही देखते हैं जैसे आवेष्टन के अन्य तत्त्वों को। उस समय उन्हें अभिव्यक्ति देने वाला कवि (विषयी) उन्हें अनुभव का विषय बनाकर उनके सौन्दर्यासौन्दर्य की विवृति करता है। इसके विपरीत उपन्यास में इस विवृति का विषय पात्रों की मनोदशाएं होती हैं।

आवेष्टन की यह विविधता ही विश्वसाहित्य की जटिल विविधता की व्याख्या कर सकती है। कहा जाता है, और यह ठीक भी है कि हमारे आवेग तथा संवेदनाएं वही रहती हैं; हमारे स्थायी भाव भी वही हैं; तो क्या यह मानना चाहिए कि साहित्य प्रक्रिया में कोई विकास नहीं होता, और परवर्त्ती युगों के साहित्यकार अपने पूर्ववर्त्ती काव्य-प्रयत्नों की आवृत्तिमात्र

करते आये हैं ? क्या आज के साहित्यकार वही कर रहे हैं, जो प्राचीन कवि कहते थे, क्या वाल्मीकि से रवीन्द्र तक मानवता ने काव्य-साहित्य के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं की ? क्या टॉल्स्टॉय और वाणभट्ट, गोर्की और दण्डी, जेम्स ज्वायस तथा गाल्सवर्दी और सुबन्धु के उपन्यासों में एक ही बात कही गई है, एक ही चीज़ अभिव्यक्त हुई है—वे ही सीमित आवेग-संवेदनाएं, वे ही स्थायी भाव ? क्या साहित्य की विशाल विविधतामात्र भ्रम है ? सचमुच ही हमें यह निष्कर्ष बड़ा विचित्र, बड़ा अद्भुत, अथ च भ्रामक प्रतीत होता है, और हमारा विश्वास है कि आप भी उसे ग्रहण करने को तैयार नहीं हैं।

तो काव्य-साहित्य का विषय साहित्यकार की चेतना के सामने फैला हुआ आवेष्टन है, और इस आवेष्टन का प्रमुख भाग मानवता का जीवन है। यह आवेष्टन प्रत्येक युग में बदलता रहता है; इसीलिए प्रत्येक युग में नये साहित्य की ज़रूरत होती है। अवश्य ही आवेष्टन के कुछ भाग—भौतिक प्रकृति, नर-नारी की प्रणय-लीला, मां और बालक का पारस्परिक संबन्ध—विशेष परिवर्तित नहीं होते; पर उन्हें देखने वाली आंखें, उनके सौन्दर्य की विवृति करने वाला मन बदल जाता है। इसीलिए प्रत्येक युग को अपना प्रकृति-काव्य और प्रणय-काव्य फिर से लिखना पड़ता है; इसीलिए सूर की बाल-संबंधिनी कविता और रवीन्द्र के शिशु-काव्य में भेद है।

कला-सृष्टि मानवता की एक खामखयाली चेष्टा नहीं है, वह निष्प्रयोजन भी नहीं है। कला द्वारा मनुष्य अपने आवेष्टन के उन पहलुओं को समझने की कोशिश करता है, जो उसके सुख दुःख, राग-द्वेष से घनिष्ठ रूप में संबद्ध हैं। जीवन में, आवेष्टन में, क्या शुभ है और क्या अशुभ, क्या सुन्दर है और क्या असुन्दर, इसे ठीक से देखे-जाने बिना हम अपने प्रयत्नों को ठीक दिशा में नहीं मोड़ सकते, इस प्रकार कला हमारे व्यापारों का दिशा-निर्देशन करती है। साथ ही उस अपार-विश्व से जो साक्षात् हमारे प्रयत्नों का क्षेत्र नहीं है, रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करके कला हमारे अस्तित्व का प्रसार करती है। अस्तित्व की प्रसारक होने के कारण सब प्रकार की कला, शकुन्तला की सुरभित कॉमेडी और हार्डीकृत 'टेस' की करुणाविगलित ट्रेजेडी हमारे आनन्द का हेतु होती है। अतः हम मम्मट से सहमत हैं कि काव्य-साहित्य का एक प्रमुख उद्देश्य आनन्दानुभूति है।

और कला का दूसरा प्रयोजन हममें मानव-जीवन के मूल्यांकन की क्षमता उत्पन्न करना है। व्यक्ति-विशेष का जीवन जिस अनुपात में महत्त्वपूर्ण होता है, उस अनुपात में वह उसकी मूल्य-भावना से नियन्त्रित रहता है। विश्व के श्रेष्ठतम पुरुष अहर्निश जीवन-सम्बन्धी मूल्यों का अनुचिन्तन एवं अभिमत आदर्श की उपलब्धि का प्रयत्न करते रहते हैं। जीवन और सभ्यता की जटिलतर वृद्धि के साथ कलाकार का कार्य भी जटिलतर होता जाता है, जिसे सम्पन्न करने के लिए उसे अपने

पूर्ववर्त्ती कलाकारों तथा अन्य प्रतिभा मनीषियों से अधिकतम सहायता लेनी पड़ती है।

अब हमें देखना चाहिए कि किस प्रकार कलाकार अन्य कोटि के विचारकों से सहायता लेता और स्वयं मानवता के मूल्यानुचिन्तन को आगे बढ़ाता है। जड़ घटनाओं के क्षेत्र में ही नहीं, मूल्य-जगत् में भी सब प्रकार के वादों और सिद्धान्तों का आधार कतिपय तथ्य (Facts) होते हैं, जो कथंचित् प्रत्यक्ष दृष्टि से जाने जाते हैं। प्रत्येक वाद या सिद्धान्त तथ्यों अर्थात् वास्तविकताओं की व्याख्या का प्रयत्न है, और उसकी कसौटी भी तथ्य या वास्तविकताएं ही हैं। कलाकार वादों का अध्ययन मुख्यतः अपनी दृष्टि के प्रसार के लिए करता है। स्वय कलाकार का काम अपनी परिष्कृत दृष्टि से नई मार्मिक छवियों को प्रकाश में लाना है। देखने की बात यह है कि कलाकार की दृष्टि मुख्यतः विशेषोन्मुखी होती है। सामान्य सिद्धान्तों की अपेक्षा उसे विशेष वास्तविकताएं ज्यादा प्रिय होती हैं, और उसकी दृष्टि प्रायः ऐसी वास्तविकताओं को ढूंढ़ निकालने की अभ्यस्त है। एक उपन्यास या नाटक के रूप में कलाकार अपनी बिखरी हुई दृष्टियों का एकत्रीकरण या समंजस संगठन कर सकता है; पर यह संगठन या समन्वय भी विचारक के सामान्य सिद्धांत से भिन्न कोटि की चीज होता है। सारांश यह कि कलाकार की प्रतिभा सदैव मूर्त्तविधान ही करती है, अमूर्त्त सिद्धान्त-सूत्रों का विधान नहीं। इस सम्बन्ध में हमें क्रोचे का सिद्धान्त मान्य है।

कलाकार की दृष्टि पूर्ववर्त्ती विचारकों के अध्ययन से परिष्कृत और विस्तृत होती है, वह उनसे बंधती नहीं। साधारण व्यक्ति और प्रतिभाशाली का यह एक प्रमुख भेद है। वाद या सिद्धान्त साधारण व्यक्ति का दृष्टि-विस्तार नहीं करते। वे रंगीन चश्मे की भांति उसकी दृष्टि को विकृत कर देते हैं। इसके विपरीत प्रतिभाशाली विचारक या कलाकार वादों से आबद्ध नहीं होता, वह उनकी आधारभूत वास्तविकताओं से परिचित होकर नवीन वास्तविकताओं को देखता-खोजता आगे बढ़ जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रतिभाशाली कलाकार किसी मतवाद का पोषक या अनुयायी नहीं बन सकता।

पूर्ववर्त्ती विचारकों तथा कलाकारों की सहायता से अपनी दृष्टि का परिष्कार करके कलाकार फिर उस दृष्टि में विश्वास रखता हुआ आगे बढ़ता है, और स्वयं नवीन मार्मिक छवियों का उद्घाटन करके मानवता के दृष्टि-प्रसार में सहायक होता है। इस प्रकार कलाकार की क्रान्तदर्शिनी दृष्टि पद-पद पर दूसरों के तथा अपने लिए भी आश्चर्यजनक नूतनताओं का आविष्कार करती चलती है। कला नीति और धर्म भावना की विरोधी नहीं है; पर कभी-कभी वह जीवन की ऐसी छवियों में सौन्दर्य देखने लगती है जो नीति-धर्म द्वारा अशुभ घोषित की जा चुकी हैं अथवा जिनके सम्बन्ध में आज तक के विचारक उदासीन रहे हैं। विश्व का सांस्कृतिक इतिहास बतलाता है कि ऐसे अवसर पर नैतिक-धार्मिक रूढ़ियों की अपेक्षा कलाकार का नेतृत्व अधिक

विश्वसनीय होता है। कारण यह है कि कलाकार की दृष्टि अधिक संवेदनशील, जीवन से अधिक सम्पृक्त और अधिक निष्पक्ष होती है; तरह-तरह के वादों, सिद्धान्तों और तन्त्रों के प्रभाव से वह यांत्रिक नहीं बन जाती।

प्रकृति-प्रेम से हमें क्या लाभ है, इसका बौद्धिक विवरण प्राप्त किए बिना ही हम सदा से प्रकृति-काव्य का आनन्द लेते आये हैं; और फ्रायड से सहस्राब्दियों पहले से कलाकार नर-नारी के सम्बन्ध का महत्त्व घोषित करते रहे हैं। साहित्य में प्रेम-काव्य एवं प्रेम-तत्त्व की प्रधानता इस बात की द्योतक है कि नर-नारी का प्रणय एवं पारस्परिक प्रेम-भावना मानवता के अस्तित्व के लिए बहुत जरूरी है। इसी प्रकार कवियों ने वात्सल्य-भावना को जीवित रखने के लिए भी बहुत-कुछ किया है। आज आप सुनते हैं कि कुछ देशों की जन्म-संख्या कम हो रही है, और वहां के नेता इसके लिए चिन्तित हैं और तब शायद आपके ध्यान में आ सकता है कि मानव-सभ्यता की दृष्टि से शिशु-सम्बन्धी काव्य का क्या महत्त्व है। बर्ट्रैण्ड रसेल ने कहीं कहा है कि कुछ काल बाद लोगों का बौद्धिक विकास इतना अधिक हो जायगा कि सन्तानोत्पत्ति का काम करने को बहुत थोड़े लोग तैयार हुआ करेंगे। मतलब यह है कि उन्नत बुद्धि के लोगों को नारी आकर्षित नहीं करेगी। इसका स्पष्ट फल यह होगा कि कम विकसित मस्तिष्क के लोग ही सन्तानें उत्पन्न करेंगे और सभ्यता की प्रगति में बाधा पड़ेगी। पर मेरा विश्वास

है कि मानव-जाति का प्रेम-काव्य इस दुष्ट संभावना से उसकी रक्षा करेगा।

कलाकार की मूल्य-दृष्टि सदैव स्वीकृत नीतिवाद की तुला पर नहीं तोली जा सकती, पर प्रायः वह उससे अधिक गहरी होती है। प्रगतिशील मानव-सभ्यता पुराने नीतिवादों को छोड़ती या उनमें संशोधन करती जाती है, पर प्राचीन कला-कृतियों में उसका प्रेम बढ़ता जाता है। मनु आज पुराने पड़ गये, पर कालिदास चिर-नवीन हैं। कला जहां गहरी अन्तर्दृष्टि की अभिव्यक्ति होती है, वहां वह प्रचलित नीतिवादों पर आधारित न हो कर स्थायी मानव-नीति का आधार बन जाती है। शेलीने ठीक ही कहा है—Ethical science arranges the elements which poetry has created and propounds schemes and proposes examples of civil and domestic life ......अर्थात् नीति, शास्त्र का काम काव्य द्वारा उपस्थापित तत्त्वों को शृङ्खलाबद्ध करके सामाजिक एवं कौटुम्बिक जीवन के लिए योजनाएं प्रस्तुत करना है। अन्यत्र उसी कवि ने कलाकार को मानवता का अज्ञात नियामक (Unacknowledged legislator) कहा है, जो उचित ही है।

अब यदि आप मुझसे पूछें कि क्या आज के लेखकों को मार्क्सवाद या तथाकथित प्रगतिवाद का आश्रय लेना चाहिए, तो मेरा उत्तर स्पष्ट है। जहां तक मार्क्सवाद कतिपय महत्त्वपूर्ण वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान ले जाता है, वहां तक दृष्टि-

प्रसारक होने के कारण, वह ग्राह्य है। इसके अतिरिक्त, वाद के रूप में वह कलाकार की दृष्टि को सीमित या बद्ध ही करेगा, ऐसी आशंका है। मार्क्सवाद का अनुयायी बनकर जो कलाकार प्रकृति, दाम्पत्य-जीवन एवं मां और शिशु के सम्बन्ध में सौन्दर्य देखने से इन्कार करेगा वह स्वयं अपनी दृष्टि और कला के पूर्णोन्मेष में बाधक होगा। साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पीड़ित मानवता के क्रन्दन की ओर से नेत्र और कान मूंद कर हम सभ्यता और कला का कोई उत्कर्ष नहीं कर सकते। कला का काम हमारे सम्पूर्ण आवेष्टन, सम्पूर्ण जीवन का मूल्यांकन और व्याख्या करना है। जीवन से आंख बचाकर नहीं, जीवन को उसकी पूर्णता में रागात्मक निरीक्षण और अनुभूति का विषय बना कर ही कलाकार अपने काम को पूर्णतया संपादित कर सकता है। श्रेष्ठ कलाकार बनने के लिए अनुभूति में गहराई और व्यापकता दोनों ही गुणों का संनिवेश होना चाहिए। महान् कलाकार अपने युग का पूर्ण प्रतिनिधि, सम्पूर्ण व्याख्याता होता है। उसकी वाणी में युग के सारे संघर्ष, सारे राग-विराग, समस्त प्रश्न और सन्देह, मूर्तिमान् हो कर बोलते या ध्वनित होते हैं।

टॉल्स्टॉय ने कहा है कि कला मनुष्यों को समान संवेदना या आवेग से अनुप्राणित करके मिलाती या एक करती है। हम टॉल्स्टॉय के कार्य-निर्देश से सहमत हैं, पर उन के कारण-निर्देश से हमारा मतभेद है। कला मनुष्यों में एक मूल्य-दृष्टि, एक मूल्य-भावना उत्पन्न करती है जिसके फलस्वरूप वे

सांस्कृतिक तादात्म्य का अनुभव करते हैं। एकता का स्थायी आधार आवेग नहीं, दृष्टि है, यह ज्ञान या भावना कि वे ही वस्तुएं या स्थितियां मानवमात्र के लिए शुभ या अशुभ, सुन्दर या असुन्दर, ग्राह्य अथवा त्याज्य हैं। विज्ञान भी दृष्टि की एकता उत्पन्न करता है, पर उस की प्रणाली दूसरी है। वस्तुतः विज्ञान और कला मनुष्यों में दृष्टिगत एकता अथवा सांस्कृतिक तादात्म्य स्थापित करने के दो महत्त्वपूर्ण साधन हैं जिनका महत्त्व दिन-प्रति-दिन बढ़ता जायगा; इसके विपरीत संकीर्ण धार्मिकता एवं नैतिकता से विमुक्त राजनीति मनुष्यों को लड़ाने वाली शक्तियां हैं जिनके ह्रास अथवा कम-से-कम प्रयोग में ही मानवता का कल्याण है।

: ३ :

कवि और कविता

(आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी)

यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े-बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते, उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी में कविता लिखने की प्रतिभा स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ-न-कुछ लाभ पहुंचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े-बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुनकर कवितागत रस के अनुसार दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि के भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते और जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम

लोगों में पुराने ज़माने में भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तररामचरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है, वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।

पुराने ज़माने में ग्रीस के एथेन्स नगर वाले मेगारा वालों से वैर भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफ़े लड़ाइयां हुईं, पर हर बार एथेन्स वालों ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊँची जगह पर चढ़ कर एथेन्स वालों को सुनाया। कविता का भावार्थ यह था—

"मैं एथेन्स में पैदा न होता तो अच्छा था। मैं किसी और देश में क्यों न पैदा हुआ? मुझे ऐसे देश में पैदा होना था, जहां के निवासी मेरे देश-भाईयों से अधिक वीर, अधिक कठोर-हृदय और उनकी विद्या से बिल्कुल बेख़बर हों। मैं अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था में अधिक संतुष्ट होता। यदि मैं किसी ऐसे देश में पैदा होता तो लोग मुझे देखकर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहने वाला है, जहां वाले मेगारा के निवासियों से लड़ाई में हार गए और लड़ाई के मैदान से भाग निकले। प्यारे देश-बन्धुओ, अपने शत्रुओं से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलंक को फ़ौरन धो डालो। अपने लज्जा-जनक पराजय के अपयश को दूर कर दो। जब तक अपने

अन्यायी शत्रुओं के हाथ से अपना छिना हुआ देश न छुड़ा लो, तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो।" लोगों के दिल पर इस कविता का इतना असर हुआ कि तुरन्त मेगारा वालों पर फिर चढ़ाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बखेड़ा हुआ था उसे एथेन्स वालों ने लेकर ही चैन ली। इस चढ़ाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया था।

रोम, इङ्गलैंड, अरब, फ़ारस आदि देशों में इस बात के सैंकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असंभव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहां भीरुता का दौरदौरा था वहां ग़दर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज़ है, परन्तु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञानवृद्धि नहीं होती, जब तक सभ्यता का ज़माना नहीं आता, तभी तक कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है।

कविता में कुछ-न-कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास-खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था, उतना अब नहीं होता। हज़ारों वर्षों से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका है, जो नए कवि होते हैं

वे भी उलट-फेर से प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं, उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है, तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है, किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों, उन्हें यदि वह बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए विना न रहे, परन्तु परतन्त्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट के पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है।

सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहां मना है, वहां इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिये कोई रोक न होनी चाहिए। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब,

वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे सन्तोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियां असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुंचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार जरूर माना है, परन्तु अभावोक्तियां भी क्या कोई अलंकार हैं? किसी कवि की बे-सिर-पैर की बातें सुन कर किस समझदार आदमी को आनन्द प्राप्त हो सकता है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं, वह समाज प्रशसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से कविता की सीमा कट-छंट कर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृङ्गारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को

उठाइए, आशिक-माशूकों के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रङ्गा हुआ पाइयेगा।

इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है, पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना, ठंडी सांसें लेना, जीते ही अपनी क़ब्रों पर चिराग़ जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा-सा भी अंश सच है? फिर क्यों इस तरह की कविता सैंकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके हैं जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या-क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी ही लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज़ नहीं आते। नख-शिख, नायिका भेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ की बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफ़ूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा के परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोल-चाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं।

जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोल-चाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोषकार अपने कोषों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं, उस भाषा की उन्नति तो होती ही नहीं, उलटा अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नए तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है, तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं कि यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं कि यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छंद प्रभाकर" में दिये गए लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अबतक कविता कहते आये हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव काँव।

इसी तरह की नुक़ता-चीनी से तङ्ग आकर अङ्गरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सबोधन करके उसकी सांत्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेक़दरी का ज़माना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ़ खिंचना तो दूर रहा, उलटा सब कहीं तेरी निंदा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है, पर जब मैं अकेला होता हूं तब तुझ

पर मैं घमंड करता हूं। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं, वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं, पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद जरूर चूर्ण हो जाता है।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करनेवाले कवि-प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवाह न करके अपने स्वीकृत पथ से ज़रा भी इधर-उधर होना उचित नहीं।

आज-कल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वह भेद है जो 'पोइट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरञ्जक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली हुई शब्द-स्थापना-मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं, और संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह बिना तुकबन्दी का है, देखो संस्कृत से बढ़कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो।

अरब में भी सैंकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गये हैं। वहां भी शुरू-शुरू में तुकबन्दी का बिलकुल ख्याल नहीं था। अंग्रेजी में भी अनुप्रास-हीन बेतुकी कविता होती है। हां, एक बात जरूर है कि वज़न और क़ाफ़िये से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है, पर

कविता के लिए ये बातें ऐसी हैं, जैसे कि शरीर के लिये वस्त्राभरण।

यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इसका होना निष्फल ही समझना चाहिए। पद्य के लिए क़ाफ़िये वग़ैरह की ज़रूरत हैं, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो यह बातें एक प्रकार से उलटा हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि के पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियां हैं। ढूंढ़ने से कविताओं के विचार-स्वातंत्र्य में बड़ी बाधा आती है। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर क़ाफ़िये और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रता से नहीं प्रकट करने देते। क़ाफ़िये और वज़न को पहले ढूंढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधानता को अप्रधानता प्राप्त हो जाती है, और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर बैठती है, फल यह होता है कि कवि की कविता का असर ही जाता रहता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढङ्ग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुननेवालों पर उसका कुछ-न-कुछ असर ज़रूर पड़े, उसका नाम कविता है। आज-कल हिंदी

के पद्य-रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़ कर समझते हैं, कुछ सम्पादक के ख़िलाफ़ नाटक, प्रहसन और व्यंग्यपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शांत करते हैं।

कवि का सब से बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। उसके लिये कल्पना या इमैजिनेशन (Imagination) की बड़ी ज़रूरत है। जिसमें जितनी ही अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नए-नए भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं, वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसीलिए संस्कृत वालों ने प्रतिभा ही को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती, इस शक्ति को कवि मां के पेट से लेकर पैदा होता है। इसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है। वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढङ्ग से बयान करता है, जिसे सुन कर सुनने वाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख-दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी-कभी ऐसी अद्भुत-अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुंच वहां तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नहीं, वह अनन्त है।

प्रकृति अद्भुत-अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब-अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षाएं भी ग्रहण करता है और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुंचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृष्टि और प्रकृति के कौशल के देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है, वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। उस की दशा कभी एक-सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विकार-तरंगें उसके मन में उठा करती हैं। इन विकारों को जांच, ज्ञान का अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनका अनुभव कराने में समर्थ होता है।

जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ, उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश-सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से द्रवीभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़

रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्दस्थापना की भी बड़ी ज़रूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूंढ-ढूंढ कर ऐसे शब्द रखने चाहिएं जो सुनने वालों की आंखों के सामने वर्ण्य-विषय का एक चित्र-सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता, तो कम ज़रूर हो जाता है। इसीलिए कवि को चुन-चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिएं, और इस क्रम से रखने चाहिएं, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर न पड़े।

मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव संयुक्ति शब्द-स्थापना के बिना कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफ़ी शब्द-समूह नहीं, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं उन्हें एक-एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है, वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनके भाव को प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुणों का वर्णन किया है। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश

से भरी हो, और असलियत से गिरी हुई न हो। सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो, किन्तु विचार-परंपरा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में ही न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो, कि उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो।

कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ़-सुथरी सड़क बनानी चाहिए जिस पर कंकड़, पत्थर, टीले, खंदक, कांटे और झाड़ियों का नाम भी न हो। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क के जरा भी ऊंची-नीची होने से पैरगाड़ी के सवार को दचके लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी-सी भी नाहमवार हुई तो पढ़ने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कवितारूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ़ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्य की नई-नई झांकियां आंखों को लुभाती हों।

दुनिया में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं, उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भावों और अटपटे शब्दों का प्रयोग करने वाले कवियों की कभी कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है, तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका

कोई नाम तक नहीं जानता। एक-मात्र सूखा शब्द-झंकार ही जिन कवियों की करामात है, उन्हें चाहिए कि वे एकदम ही बोलना बंद कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊंचा क्यों न हो, उसे पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान् और अविद्वान् दोनों काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख्याल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्व-सम्मत है उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गए हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता, उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूलरूप में लिखना ही सही समझते हैं, पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख़याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने से यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। अस-लियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बे-बुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक

नियमों के आधार पर कही गई हो, स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ़ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही समझे अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से खाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसको उलटा ही क्यों न समझते हों।

परन्तु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए, क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियां ही सुनने वाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतंत्रता-पूर्वक जो चाहे कह सकता है। असल बात को एक नए सांचे में ढालकर कुछ दूर तक इधर-उधर की उड़ान भी कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानों कविता को प्रायः निर्जीव कर डालना है।

शब्द और अर्थ दोनों के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुसरण करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति से जैसे और जिस क्रम से शब्दों का प्रयोग करते हैं, वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न करनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जो बातें सम्भव हैं, वे ही स्वाभाविक हैं। अर्थ का स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे इस तरह कहे, मानों उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुंह से निकल गए

हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो, यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कहीं हैं, किन्तु यह मालूम हो कि उस के हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक हो जाता है।

वर्ण्य-वस्तु को देखकर किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह उस पर कविता करने के लिए विवश-सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीज़ों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढङ्ग से करता है कि यदि उन चीज़ों में बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं।

जोश से यह मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब ज़ोरदार और जोशीले हों। सम्भव है शब्द ज़ोरदार न हों, पर जोश उन में छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुनने वाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे-वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तलवार का काम लेना चाहते हैं, वे ही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि यह तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी एक-आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश ही रहता है और असलियत नहीं।

परन्तु बिना असलियत के जोश होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सब से अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सब से बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वे ही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुंह से यह उक्ति निकलती है। ऐसे ही कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं, वह देश भी धन्य है।

: ४ :

कविता क्या है ?

(डा० सूर्यकान्त)

साहित्य पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि साहित्य उन रचनाओं का नाम है, जिनमें श्रोता अथवा पाठक के मनोवेगों को प्रस्फुरित करने की स्थायी शक्ति विद्यमान हो, और जिनमें रागात्मक बुद्ध्यात्मक तथा रचनात्मक तत्त्वों का संकलन हो। साहित्य की इस शक्ति को हमारे आचार्यों ने रसवत्ता के नाम से पुकारा है और यह रसवत्ता, रचना की जिस किसी भी विधा में संपन्न होती हो, उसे उन्होंने काव्य की संज्ञा देते हुए उसमें कविता, नाटक, चंपू, उपन्यास तथा आख्यायिका आदि सभी का समावेश किया है। प्रस्तुत प्रकरण में काव्य के प्रमुख अङ्ग कविता पर विचार किया जायगा।

कविता का सर्वांश-पूर्ण लक्षण ढूंढ़ना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार कवित्व-रचनाओं की अगणित विधाएं हैं, उसी प्रकार उसके लक्षणों की भी भारी संख्या है। कविता का लक्षण देने वालों में हमें दो प्रकार के विद्वान् दीख पड़ते हैं; प्रथम वे जो कविता

कविता के प्रति दो दृष्टिकोण

को हृदय का एक उच्छृङ्खल स्फुरण समझते हुए उसकी अवज्ञा नहीं तो उपेक्षा अवश्य करते हैं। दूसरे वे—और इनमें कविता के पुजारी कवियों की संख्या अधिक है—जो कविता को मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट भावों का सर्वोत्तम भाषा में प्रकाशन समझते हुए उसे संसार की सब कलाओं और विभूतियों का अधिराज बताते हैं। कविता के ये पुजारी उसे इतना अधिक उत्कृष्ट तथा पावन मानते हैं कि उनकी दृष्टि में उसका कोई लक्षण हो ही नहीं सकता। इनकी मति में कविता जनसामान्य की दृष्टि-परिधि से बाहर रहने वाली देवी और उनकी दिनचर्या से दूर रहने वाली एक अप्सरा है। सामान्य पुरुषों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं और उसके दरबार में जनसामान्य की पहुंच नहीं।

प्रथम कोटि के पुरुष—और इन की संख्या कविता की पूजा करने वाले कवियों से कहीं अधिक है—कविता को केवल चित्त-रंजन का एक साधन समझते हैं। इन की दृष्टि में कविता ऐसे पुरुषों के मस्तिष्क की उपज है, जिनका संसार में कोई लक्ष्य-विशेष नहीं है। ये लोग कविता को किसी सीमा तक हेय वस्तु समझते हैं। इनके विचार में कविता मनुष्य को आचार से च्युत करती है, वह उसकी मानसिक शक्ति को निर्बल बनाती है, उसके अध्यवसाय तथा निर्धारिणी वृत्ति को शिथिल करती है, वह मनुष्य की बुद्धि में जड़ता उपजा, उसे उमंगों तथा भावनाओं की भंवरी में डालती है और इस प्रकार उसे सत्य के मार्ग से विमुख नहीं तो उसका उपेक्षी अवश्य बना देती है। इनकी दृष्टि में

कविता एक विषैली सुरा है; वह एक अविश्वसनीय सेवक तथा घातक स्वामी है। दानवों की यह सुरा श्रोता और पाठक की मति पर असत्यता का आवरण डाल देती है। धर्म के नेता कविता को आदि काल से इसी संदेह की दृष्टि से देखते आए हैं। इस बात में उनका व्यवसायिक तथा वैज्ञानिक पुरुषों के साथ ऐकमत्य रहता आया है।

जहां कविता पर उक्त प्रकार के आक्षेप करने वालों की कमी नहीं, वहां दूसरी ओर ऐसे विद्वानों की भी न्यूनता नहीं जो कविता का लक्षण करते हुए उसे ऐसी आश्चर्यमयी कला के रूप में उपस्थित करते और उस के महत्व को ऐसे चांद लगाकर दिखाते हैं कि संसार में उसके समान दूसरी कोई भी निधि नहीं ठहरती। यदि शैले के अनुसार कविता " स्फीत तथा पूततम आत्माओं के रमणीय क्षणों का लेखा है" तो मैथ्यू आर्नल्ड की दृष्टि में वह न केवल " मनुष्य की परिष्कृततम वाणी ही है, अपितु वह उसकी ऐसी वाणी है, जिस में और जिसके द्वारा वह सत्य के निकटतम पहुंच जाता है।" जब कवि लोग अपने दाय की इस प्रकार प्रशंसा करते हैं, तब जन सामान्य के मन में एक प्रकार का संदेह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है और वह इस दाय को यथार्थ रूप में देखने के लिए प्रयत्नशील होता है।

ऊपर निदर्शित किए गए दोनों ही दृष्टिकोण किसी अंश में सच्चे हैं तो दूसरे अंशों में असत्य हैं। दोनों में सामंजस्य उपस्थित करने के लिए जहां हमें कवियों के लक्षणों में से चमत्कार

तथा भावना के नीहार को ध्वस्त करना होगा वहां दूसरी कोटि के दृष्टिकोण की उस वृत्ति को भी पराभूत करना होगा जिससे आविष्ट रहने के कारण व्यवसायिक अपने प्रतिदिन के उद्योग-धंधों की उधेड़-बुन से बाहर नहीं निकल पाते और इस प्रकार जीवन की उन मंगलमयी विभूतियों से वंचित रह जाते हैं, जिनके अभाव में मनुष्य का जीवन मरुभूमि बन जाता है। और इस उद्देश्य से हमें कविता के लक्षणों पर किंचित् विस्तार के साथ विचार करना होगा।

कविता का लक्षण

साहित्य की व्याख्या करते हुए हमने उसे दो भागों में विभक्त किया था; प्रथम उसका आत्मा अर्थात् भावपक्ष और दूसरा उसका शरीर, अर्थात् कलापक्ष। कविता भी साहित्य ही का एक चमत्कृत रूप है; फलतः इसे भी हम इसके आत्मा और शरीर इन दो भागों में बांट सकते हैं। कविता का लक्षण करने वाले आलोचकों में से कतिपय ने उसके आत्मा अर्थात् भावपक्ष पर अधिक बल दिया है और दूसरों ने उसके शरीर अर्थात् कलापक्ष पर; और यही कारण है कि दोनों ही कोटि के लक्षण सतोषजनक नहीं निष्पन्न हो पाए।

आलंकारकों के कलापक्ष में भी कविता का लक्षण नहीं मिलता

इसमें संदेह नहीं कि "कविता" इस शब्द के कान में पड़ते ही जनसामान्य की बुद्धि में उस छंदोमयी भाषा का उत्थान होता है, जिसमें विशेष प्रकार का लय अथवा ताल निहित हो। इनकी दृष्टि में जो गद्य नहीं

वही कविता है; और अपने मत की पुष्टि में वे आलंकारिकों द्वारा किए गए कविता के उन लक्षणों को प्रस्तुत करते हैं, जिनके अनुसार कविता विविध विचारों को व्यक्त करनेवाली छंदोमयी ललित तथा चमत्कारपूर्ण भाषा ठहरती है। कहना न होगा कि कविता का यह लक्षण अतिव्याप्ति से दूषित है, क्योंकि हमारे यहां गणित, ज्योतिष तथा व्याकरण आदि नीरस विषयों की भी छंदोमयी भाषा में आयोजना की गई है; किन्तु कोई भी रसिक पाठक गणित की पुस्तक लीलावती को, उसके छंदोवद्ध होने पर भी कविता नाम से न पुकारेगा।

कविता के कलापक्ष को छोड़ जब हम उसके भावपक्ष पर ध्यान देते हुए उसका लक्षण ढूंढ़ते हैं, तब भी हमें उसका कोई संतोषजनक लक्षण नहीं प्राप्त होता। इस दृष्टि से किए गए लक्षणों में से कुछ में अव्याप्ति और दूसरों में अतिव्याप्ति दोष तो है ही, ध्यान से देखने पर हम उन्हें सच्चा लक्षण भी नहीं कह सकते; क्योंकि इनमें से किसीमें भी कविता का लक्षण नहीं, अपितु कुछ में उसकी मनोहारिणी शक्ति की प्रशंसा, कुछ मे उसके रमणीय गुणों का निदर्शन और अन्यों में कवि की चित्तवृत्ति का, उसके उन विचारों और भावों का वर्णन किया गया है, जिनसे कविता की उपपत्ति होती है।

भावपक्ष की दृष्टि से कविता का लक्षण ढूंढने में कठिनता

जिस प्रकार भारतीय आचार्यों ने गानवाची कू धातु से कवि शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके संगीत पक्ष पर अधिक बल दिया है, उसी प्रकार प्राचीन ग्रीक आचार्यों ने निर्माणवाची Poies धातु से Poet शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके कल्पना और आविष्कार-पक्ष पर अधिक बल दिया है। फलतः हम बेन जाँसन तथा चैपमैन को, अरस्तू का आश्रय लेकर, कविता के आविष्कार तथा छंदोविचयन-पक्ष पर बल देता हुआ पाते हैं। मिल्टन की इस उक्ति में कि "कविता सरल, ऐन्द्रिय तथा भावपूर्ण होनी चाहिए" कविता के सभी तत्वों का समावेश हो जाता है, किन्तु यह भी कविता का वर्णनमात्र है, उसका लक्षण नहीं। गोइटे तथा लैंडर की दृष्टि में कविता प्रत्यक्षतः एक कला है; उन्होंने इसकी रचना, शैली तथा चमत्कारिनी प्रकाशन-शक्ति पर बल दिया है। दूसरी ओर कतिपय कवियों ने कविता के भाव तथा कल्पना-पक्ष पर बल देते हुए उसके आत्मा को परिपुष्ट किया है। इस वर्ग के नेता संभवतः महाकवि वर्ड्सवर्थ हैं। उनके अनुसार कविता "राग के द्वारा सत्य का हृदय में सजीव पहुंचना है।" दूसरे वाक्य में वे कविता को "ज्ञान का आदिम तथा चरम रूप" बताते हैं। एक दूसरे प्रकरण में कविता उनके अनुसार "ज्ञान-समष्टि का उच्छ्वास और उसका सूक्ष्म आत्मा" बन कर हमारे संमुख आती है। किंतु अंत में अपने परिपक्व विचारों को

कवि शब्द की ग्रीको भारतीय व्युत्पत्ति के अनुसार कविता के विविध लक्षण

प्रकट करते हुए वे लिखते हैं कि "कविता सबल भावों का स्वतः प्रवर्तित प्रवाह है; इसकी उत्पत्ति प्रसाद में एकत्र हुए मनोवेगों से होती है।" रस्किन ने भी वर्ड्सवर्थ का अनुसरण करते हुए कविता को "कल्पना के द्वारा रुचिर मनोवेगों के लिए रमणीय क्षेत्र प्रस्तुत करने वाला" बताया है।

कतिपय अन्य विद्वानों ने कविता का लक्षण करते हुए उसके रहस्यमय पक्ष पर अधिक बल दिया है। इस कोटि के लेखकों में

उक्त व्युत्पत्ति से स्वतन्त्र कविता के लक्षण।

शैले ने कविता को श्रेष्ठ तथा रुचिरतम हृदयों के श्रेष्ठ तथा भव्यतम क्षणों का लेखा" बताकर उसे "कल्पना का प्रकाशन" निर्धारित करते हुए उसकी प्रकाशिनी तथा उद्दीपिनी शक्ति पर बल दिया है। कविता की निर्माणमयी वृत्ति पर अधिक ध्यान न दे, उसकी उद्दीपन शक्ति को मन में रख कर ही एमर्सन ने उसे "वस्तुजात के आत्मा को प्रकाशित करने का सतत प्रयोग" निर्धारित किया है। इसी दिशा की ओर एक पग और आगे बढ़ा, ब्राउनिंग ने कविता को "विश्व की देव के साथ, भूत की आत्मा के साथ, और सामान्य की आदर्श के साथ होने वाली संगति का उत्थान" निदर्शित किया है। मैथ्यू आर्नल्ड का वह लक्षण, जिस के अनुसार कविता "कवीय सत्य और कवीय सौंदर्य के नियमों द्वारा निर्धारित की गई परिस्थितियों में किया गया जीवन का व्याख्यान है" रमणीय होने पर भी अस्पष्टता दोष से दूषित है। क्योंकि जब तक हम 'कविता क्या वस्तु है' इस बात को न जान जाएं,

तब तक हमारे लिए कवीय सत्य और कवीय सौंदर्य का पहचान लेना असम्भव है। हर्बर्ट रीड के अनुसार कविता 'मनोवेगों को अनिरुद्ध छोड़ देना नहीं, अपितु उन से मुक्ति पाना है; यह व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं, अपितु व्यक्तित्व से मुक्ति पा जाना है।" सुप्रसिद्ध इटालियन विद्वान् विको कविता को "असम्भव को विश्वसनीय बनाने वाली" बताता है। कतिपय विद्वानों के सम्मुख कविता का रहस्य पक्ष इतना अधिक अभिचारी बन कर आया है कि उन्होंने उसको निदर्शित करने का प्रयत्न ही करना छोड़ दिया है। उदाहरण के लिए, डाक्टर जांह्सन, जिन्हें मूर्त निदर्शनों का बड़ा ही शौक था—कविता के विषय में कुछ न कह कर उसकी सारवत्ता को इस प्रकार के पंगु शब्दों में व्यक्त करते हैं, "हम जानते हैं कि प्रकाश क्या वस्तु है, किन्तु हम में से कोई भी यह नहीं बता सकता कि वह क्या है और कैसा है।" इसी तरंग में बहते हुए महाशय कोलरिज लिखते हैं "कविता का पूरा पूरा आस्वादन तभी मिलता है, जब वह भली-भांति समझ में न आ सके।" प्रोफेसर हाउसमान भी अपनी इस उक्ति में कि 'कविता वह वस्तु है, जो उनकी आंखों में आंसू भर देती है' इसी निराश्रयता का अंचल पकड़ते हैं।

दूसरी ओर कतिपय विद्वानों ने कविता के आवश्यकता से अधिक लम्बे लक्षण किये हैं। इन विद्वानों में हंट भी एक हैं, जिन्होंने अपने 'कविता क्या है' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "कविता सत्य, सौन्दर्य तथा शक्ति के लिए होने

वाली वृत्ति का मुखरण है; यह अपने आप को प्रत्यय, कल्पना तथा भावना के द्वारा खड़ा करती और निदर्शित करती है; यह भाषा को विविधता तथा एकता के सिद्धांत पर स्वर-लय-संपन्न करती है।" इसी प्रकार अध्यापक स्टेडमान कविता को "मानव-हृदय के आविष्कार, रुचि, विचार, वृत्ति तथा अंतर्दृष्टि को प्रकाशित करने वाली लययुक्त, कल्पनामयी भाषा" बताते हैं।

ऊपर निर्दिष्ट किये गए कविता के सभी लक्षण सच्चे हैं, किंतु इनमें से एक का भी साहित्य के उस लक्षण के साथ प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं है, जिस पर हम प्रस्तुत पुस्तक के पहले प्रकरण में विचार कर आए हैं, और जिसका, क्योंकि कविता भी साहित्य ही का एक अङ्ग है, इसलिए इसके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना सुतरां आवश्यक है। प्रसिद्ध समालोचक कोलरिज—जिनका अनुशीलन इस प्रकार के विषयों में अत्यन्त विशद तथा गहन होता है—लिखते हैं "कविता का प्रतीप गद्य नहीं, अपि विज्ञानतु है" और यह बात है भी सच। किंतु यदि प्रस्तुत पुस्तक के आरम्भ में दिया गया साहित्य का लक्षण दोष रहित है तो न केवल कविता का, अपितु साहित्य ही का विज्ञान के साथ प्रातीप्य ठहरता है। हमने कहा था कि किसी रचना को हम साहित्य उसकी मनोवेगों को स्फुरित करने वाली शक्ति के आधार पर कहते हैं। साहित्य की कुछ विधाओं का—जैसे कि इतिहास का—प्रमुख ध्येय मनोवेगों को तरंगित करना और उसके द्वारा श्रोता

उक्त लक्षणों में दोषः—कविता का सरल लक्षण

अथवा पाठक के हृदय में आह्लाद उत्पन्न करना है। साहित्य की इस विधा में वे सभी (कविता आदि) रचनाएं सम्मिलित हैं, जो पाठक को किसी प्रकार का उपदेश देती हैं तो भी वह अप्रत्यक्ष रूप से; यदि वे उसकी इच्छा अथवा आचार को नियमित करती हैं, वह भी अनजाने में; और जिसका प्रमुख लक्ष्य उसके हृदय में निहित हुई आनन्ददायिनी भावनाओं को स्वयं उन्हीं के लिए उद्दीप्त करना होता है। साहित्य की इस विधा के लिए हमारे पास कोई संज्ञाविशेष नहीं है; हम चाहें तो इसे भावनाओं का साहित्य अथवा विशुद्ध साहित्य इस नाम से पुकार सकते हैं। साहित्य की इस विधा को हम चाहे जो भी नाम दें, हम इसे इसकी रचनाशैली के अनुसार इसकी उपविधाओं में विभक्त कर सकते हैं; और साहित्य की इन उपविधाओं में एक विधा वह भी है, जिसकी रचना पद्यमयी होती है। साहित्य की इस विधा को हम कविता कहते हैं। अब, यदि उस साहित्य के लिए—जिसका प्रमुख लक्ष्य मनोवेगों को तरंगित करना है—हमारे पास कोई विशेष संज्ञा हो तो हमारे लिए कविता का लक्षण करना सहज हो जाता है। और यदि हम साहित्य को मनोवेगों का साहित्य, इस नाम से पुकारें तो हमारा कविता का लक्षण यह होगा कि कविता मनोवेगों के साहित्य की वह विधा है, जिसकी रचना छन्दों में होती है। और यदि हम लक्षण के झमेले से निकल कविता को समझाने का यत्न करें तो हमारा कहना यह होगा कि कविता साहित्य की वह विधा है, जिसका लक्ष्य मनोवेगों

को तरंगित करना है, और जो छन्दों में लिखी जाती है। कविता में अनिवार्य रूप से रहकर उसको लक्षित करने वाले दो तत्त्व ये हैं : प्रथम, मनोवेगों को तरंगित करना, द्वितीय, छंदों में खड़ी होना। जिस किसी भी रचना में इन दोनों तत्त्वों की उपलब्धि हो, उसी को हम कविता कहते हैं, और केवल उसी को और किसी को नहीं। यदि किसी रचना में पहला तत्त्व विद्यमान है, पर दूसरे का अभाव है तो उसे हम गद्यसाहित्य कहेंगे। उदाहरण के लिए जैसे बाणभट्ट की कादम्बरी। इसमें मनोवेगों का तरंगन चरम कोटि का है, किन्तु कविता के द्वितीय अंग अर्थात् छंदोमयता का अभाव है। अंग्रेजी में डिक्वेंसी और रस्किन के निबन्ध इसी श्रेणी के हैं। दूसरी ओर यदि कोई रचना छंदोमय होने पर भी हमारे मनोवेगों को नहीं तरंगित करती तो वह लीलावती के समान पद्य की सर्वोत्कृष्ट वेषभूषा से भूषित होने पर भी कविता कहाने की अधिकारिणी नहीं है। और इस प्रकार उक्त लक्षण के अनुसार कविता वाच्य और वाचक दोनों ही की दृष्टि से साहित्य की सर्वोत्कृष्ट रचना ठहरती है। साहित्य का मार्मिक लक्षण अर्थात् मनोवेगों को तरंगित करना कविता के क्षेत्र में आ, उसका प्रमुख लक्ष्य बन जाता है; और रचना की शैली जो साहित्य की अन्य विधाओं में सामान्य रूप से परिष्कृत होती है, यहां आ कर सौंदर्य तथा चमत्कार की पराकोटि पर पहुंच जाती है।

कविता के उक्त लक्षण पर यह आपत्ति की जा सकती है कि यह आवश्यकता से अधिक संकुचित है और इसकी उन पद्यबद्ध रचनाओं में अव्याप्ति है, जिन का प्रमुख ध्येय पाठक के हृदय में आनन्द-प्रसूति न होकर उन्हें उपदेश देना है, जैसे संस्कृत में भर्तृहरि के तीन शतक और अंग्रेजी में पोप का "एस्से ऑन मैन"; किंतु इन दोनों रचनाओं को सभी देशी और विदेशी पाठक चलती कविता मानते आए हैं।

कविता के इस लक्षण पर आपत्ति और उसका परिहार

किन्तु ध्यान से देखने पर उक्त आक्षेप निराधार ठहरता है; क्योंकि सब प्रकार की यथार्थ कविताओं का प्रमुख लक्ष्य, चाहे वे कितनी भी उपदेशप्रद क्यों न हों, प्रत्यक्षतः मनोवेगों को तरंगित करना होता है, न कि उपदेश देना। उपदेश देना तो उनकी गौण वृत्ति होती है। और यदि सचमुच इनका प्रमुख लक्ष्य उपदेश देना ही होता तो इनकी रचना पद्य में न होकर गद्य में होनी अधिक उपयुक्त होती; क्योंकि निःसन्देह उपदेश देना पद्य की अपेक्षा गद्य में कहीं अच्छी तरह किया जा सकता है। हम मानते हैं कि सभी प्रकार के साहित्य का चरम लक्ष्य जीवन को सत्यान्वेषी बनाना है, किन्तु जहां गद्य-रचनाएं जीवन को सत्याभिमुख बनाने के लिए सत्य का प्रवेश हमारे मस्तिष्क में करती हैं, वहां कविता उसका प्रवेश हमारे हृदय में करके उसे वहां चिरस्थायी बना देती है; किन्तु सत्य का यह प्रवेश भी कविता की मुख्य वृत्ति न हो उसकी गौण वृत्ति हुआ करती है।

हम मानते हैं कि उपदेशप्रद कविता भी यथार्थ कविता हो सकती है, किन्तु यथार्थ कविता होने पर भी वह कविता के उस उन्नत आदर्श पर नहीं पहुंच पाती जहां हमारा जीवन एकांततः भावनाओं का भवन बन जाता है; जहां धर्माधर्म, सुख-दुःख, तथा कर्तव्याकर्तव्य के द्वन्द्व दलित होकर आत्मा की सत्ता चिदानन्दमात्र रह जाती है।

एक बात और; सब जानते हैं कि हमारे मनोवेगों में उत्कट तरंगें तभी उठती हैं, जब हम कलाकार के द्वारा उत्थापित किए गए व्यक्तियों और उन पर बीती घटनावलियों को मूर्त्त रूप में अपने सम्मुख स्पंदित होता देखते हैं। अमूर्त तथा भावरूप सत्य को अग्रसर करने वाली उपदेशप्रद कविता में यह बात उतनी भव्यता से नहीं संपन्न हो पाती। इस प्रकार की कविता से उत्पन्न होने वाले मनोवेगों में वह उत्कटता और घनता नहीं आ पाती, जो मूर्त व्यक्तियों और उन पर बीतने वाली घटनाओं को निदर्शित करने वाली कविता में परिपक्व हुआ करती है।

कविता और अन्य प्रकार के साहित्य में भेद

ऊपर कहा जा चुका है कि कविता और उससे भिन्न प्रकार के साहित्य में यह भेद है कि जहां कविता का प्रकाशन छन्दों में होता है, वहां साहित्य की दूसरी विधाओं का प्रवाह गद्य में बहा करता है। किन्तु कविता के इस कलापक्ष की उत्पत्ति किन्हीं बाह्य आवश्यकताओं तथा तत्त्वों से नहीं होती; इसका उत्थान तो कविता की अपनी आंतरिक

आवश्यकता तथा शक्ति से सम्पन्न होता है। क्योंकि जहां गद्य में प्रवाहित होने वाले साहित्यसामान्य का लक्ष्य विशेष-विशेष बिन्दुओं पर मनोवेगों को कीलित करना होता है; वहां कविता प्रतिपक्ति और प्रतिपद मनोवेगों की भाषा बन कर खड़ी होती है। और यह एक सामान्य तथ्य है कि जब हमारे मनोवेगों में उत्कटता आती है, हमारी भाषा में भी तदनुसारिणी नियमितता स्वयमेव उपस्थित हो जाती है और भाषा की इसी नियमबद्धता को हम उसके परिष्कृत रूप में छन्द नाम से पुकारते हैं। इसी लिए हम देखते हैं कि जब हम कभी भी उत्कट मनोवेगों को मुखरित करने वाली छन्दोमयी रचना को गद्य में परिवर्तित किया चाहते हैं, तभी उसके विन्यास और सौष्ठव में वक्रता आ जाती है और उसकी छन्दोबद्धता में संपुटित हुआ आनन्द फीका पड़ जाता है।

कविता और संगीत

और इस तथ्य के समर्थन में कि उत्कट भावनाओं की अभिव्यक्ति गद्य की अपेक्षा पद्य में भव्य बन पड़ती है, हम कहेंगे कि जब हमारे भावना-तन्तुओं के साथ किसी भी अन्य साहित्यिक तत्त्व (विचार आदि) का संकलन नहीं होता, तब वे संगीतपट पर ग्रथित हो घन बन जाते हैं और हमारी भाषा मूकता में परिणत हो जाती है। तब केवल संगीत तथा भावना शेष रह जाते हैं और साहित्य की निष्पत्ति नहीं होती। इस के विपरीत ज्यों ही भावनाओं के इस आवेश में साहित्य

के बौद्धिक तत्त्व विचार आदि की अर्चना आ जाती है, त्यों ही वह आवेश कविता के रूप में प्रवाहित हो पड़ता है और हमारी भाषा संयमित तथा सुघटित हो छन्दोमयी बन जाती है। फलतः यदि हम कविता को उत्कट भावनाओं की संतति स्वीकार करते हैं तो छन्दोमयता उसका नैसर्गिक गुण अथवा अवयव बन जाता है और कविता के भाव और कला दोनों पक्ष एक दूसरे से अविभाज्य बन जाते हैं।

कविता और उपन्यास

और जब हम अपने मस्तिष्क में इस तथ्य को आरूढ़ कर लेते हैं कि कविता मनोवेगों की भाषा है, तब कविता और उपन्यास में दीख पड़ने वाला आंगिक भेद हमारे सामने और भी अधिक विशद हो जाता है। और इस विषय में सब से अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि कविता उपन्यास की अपेक्षा संक्षिप्त होती है; यह इसलिए नहीं कि मनुष्य के मनोवेग अल्पजीवी होते हैं, भावों की अल्पजीविता तो आत्माभिव्यंजिनी कविता को संक्षिप्त करने में कारण बनती है, क्योंकि यहां कवि जीवन की किसी एक उत्कट भावना को लेकर उसके आधार पर अपनी तूलिका चलाता है, और उस भावना के मन्द पड़ जाने पर अपनी तूलिका थाम देता है, किन्तु आत्माभिव्यजिनी रचना को जन्म देने वाले मनोवेगों से भिन्न प्रकार के प्रलम्ब मनोवेग भी होते हैं, जिनकी संतति को यदि कवि चाहे तो पर्याप्त समय तक उत्कट बनाए रख सकता है; और

उसकी इस जीवन-प्रलंबिनी प्रक्रिया में ही महाकाव्यों का उदय होता है। किन्तु इन प्रलम्बित मनोवेगों की भित्ति पर अंकित किए गए महाकाव्य की अपेक्षा उन्हीं के आधार पर खड़ा होने वाला उपन्यास कहीं अधिक बृहत् तथा विपुलकाय होता है; क्योंकि जहां कविता को—क्योंकि यह निसर्गतः मनोवेगों को वहन करने वाली भाषा है—कथा के भीतर आने वाली उन सब बातों को तज देना होता है, जिनका मनोवेगों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो, वहां उपन्यास के भीतर ऐसी सब प्रासंगिक बातों का समावेश हो जाना अपेक्षित होता है, जो किसी-न-किसी प्रकार से चरित्र-चित्रण में सहयोग देती हों। अब, यदि हमारी प्रस्तुत कविता एक महाकाव्य हुआ तो यह कथा के उन्हीं तुंगों पर ठहरेगी, जिनके भीतर कथा का आत्मा घनीभूत होकर अनुप्राणित हुआ है। कविता में अन्तर्भूत हुई घटनाएं भी उपन्यास की अपेक्षा न्यून होंगी, किन्तु जो होंगी, वे होंगी सबल और शक्तिसंपन्न। एक कवि को अपने कथावस्तु में अनावश्यक वक्रता और संकुलता लाने की स्वतन्त्रता नहीं होती, क्योंकि ऐसा करने पर कविता में बहुत से ऐसे वर्णनों का लाना अनिवार्य हो जाता है, जिनका कवित्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं होता और जिनके प्रविष्ट हो जाने पर कविता की घनता पिघल जाती है। इसी कारण कविता के भीतर वर्णित हुई घटनाओं को व्यंजनागर्भ होने पर भी विश्लेषण की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि आवश्यकता से अधिक मात्रा में

होने वाला विश्लेषण भी कविता के प्रभाव को सांद्र तथा सजीव नहीं रहने देता। कविता में मनोवेगों का निदर्शन कराया जाता है, उसका वर्णन नहीं; फलतः किसी भी प्रकार का मनोभावों का वर्णन अथवा उनका विश्लेषण कवि के लिए हेय नहीं, तो अनावश्यक अवश्य है; और इसीलिए कविता में होने वाला गिरि, नदी आदि का वर्णन भावमय होना चाहिए; उसमें स्थान-निदर्शन आदि परित्याज्य हैं। और यह बात स्पष्ट है कि भावमय वर्णन विस्तृत न होकर सदा नियमित हुआ करते हैं, वे पोले न होकर सदा ठोस और सजीव हुआ करते हैं।

कविता और उसका संस्थान

कहना न होगा कि जिस क्षण हम कविता को मनोवेगों की भाषा स्वीकार करते हैं उसी क्षण हम उसकी सरणि तथा संस्थान (diction and structure) को भी उसका आवश्यक अङ्ग मान लेते हैं। जहां कविता की भाषा अपनी छन्दोमयता के कारण गद्य की भाषा से भिन्न प्रकार की होती है, वहां अपनी संगीतमयता के कारण भी वह उससे पृथक् रहा करती है। और यद्यपि वर्ड्सवर्थ जैसे महाकवियों ने भी गद्य और पद्य की भाषा में होने वाले अन्तर का प्रत्याख्यान किया है, तथापि जनसामान्य के अनुभव में जो एक प्रकार का विशेष संगीत पद्य में पाया जाता है वह गद्य की ललित-से-ललित भाषा में भी उपलब्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए

बाणभट्ट की सर्वगुण-विभूषित कादंबरी के अत्यन्त चमत्कृत गद्य में उस सङ्गीत की श्रुति नहीं होती, जो हमें कालिदास के मेघदूत में आद्योपान्त लहराती दीख पड़ती है। इसी प्रकार अंग्रेजी की रुचिरतम रचनाओं में से एक पिल्ग्रम्स प्रोग्रेस नामक रचना के त्रिविधगुण-विभूषित गद्य में हमें उस संगीत की लय नहीं सुनाई देती, जो हमें शेक्सपीअर अथवा शैले की पद्यमयी रचनाओं में उपलब्ध होती है। इस बात का कारण यह है कि जहां गद्य के निर्वाचित अंशों में मनोवेगों को तरंगित करने की क्षमता होती है, वहां आदर्श पद्य की प्रतिपंक्ति में और प्रति-पद में यह योग्यता संनिहित रहती है। कविता समष्टि रूप से मनोवेगों की भाषा है, तो गद्य आंगिक रूप से भावनाओं को स्फुरित करता है।

कवि दैवज्ञ होता है

और क्योंकि कविता प्रत्यक्ष रूप से मनोवेगों की भाषा है, निर्माता में एक प्रकार की दैवज्ञता का आ जाना स्वाभाविक है। जगत् को उसकी समष्टि में देखने के कारण कवि किसी अंश तक भूत, भविष्यत् और वर्तमान का निर्माता बन जाता है। उसकी इस निर्माणमयी अन्तर्दृष्टि के कारण ही ग्रीक आचार्यों ने उसे निर्माता इस नाम से पुकारा है, और हीब्र्यू भाषा में तो कवि और भविष्यवक्ता दोनों के लिए शब्द ही एक है। और जब हम कवि की इस निर्माणमयी दिव्य शक्ति पर ध्यान देते हैं तब कविता के ये लक्षण कि वह ज्ञान का

उच्छ्वास और उसका सर्वतोरुचिर आत्मा है—वह जीवन की आलोचना है, बड़े ही अनूठे और रहस्यमय दीख पड़ते हैं। जब हम किसी विश्वकवि की रचना को पढ़ते हैं, तब हमें उसके रचयिता में दिव्यद्रष्टत्व का भान होता है मानों वह कवि अपने हाथों अपना जगत् बनाकर उसकी व्याख्या करता है, वह अपने रचे काल्पनिक जगत् में हमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान सभी की झलक दिखा रहा है। यदि ऐसा न हो तो रामायण पढ़ते समय हम सहस्रों वर्ष पूर्व हुए राम को आज भी अपनी आंखों के सन्मुख खड़ा हुआ कैसे देखें; और कैसे देखें यह कि भविष्य में भी इस प्रकार की सृष्टि चलेगी जैसी रामायण के युग में चल रही थी। वाल्मीकि की रचना को पढ़ते समय प्राप्त हुआ यह त्रिकालदर्शन विचारों के साथ सम्बन्ध नहीं रखता; यह तो हमारे मनोवेगों की उत्कटता द्वारा घनीभूत होकर हमारी आँखों का विषय बन जाता है। हम कालिदास की शकुन्तला को पढ़ते समय दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा नहीं पढ़ते; उस समय तो वे अपने भौतिक शरीर में परिणद्ध हो, हमारे सम्मुख आ विराजते हैं और उन सब घटनाओं की फिर से आवृत्ति करते हैं, जो उन्होंने आज से सहस्रों वर्ष पहले कभी की थी। कवि की दृष्टि में इस निर्माणमयी त्रिकाल-दर्शिता की उत्पत्ति इस बात से होती है कि वह जीवन को उसके भिन्न-भिन्न व्यक्तिरूपों में नहीं देखता; वह तो भूत, वर्तमान और भविष्यत् के अगणित जीवनों की समष्टि को

देख, उनकी तली में से जीवन का ऐसा प्रतिरूप उत्थापित करता है, जो प्रतिक्षण परिवर्तित होने पर भी तिल भर नहीं बदलता, जो तीनों कालों और सब देश तथा परिस्थितियों में सूर्य के समान अविछिन्न रूप से प्रकाशित होता रहता है। हम देखते हैं कि हमारा जीवन प्रतिक्षण बदलता रहता है, हमारे चहुं ओर परिस्थित द्रव्यजात भी प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं। इस परिवर्तन का नाम ही तो संसार, जगत् तथा जीवन है, कवि इस परिवर्तनशील अनन्त जगत् के किसी एक परमाणु को ले, उसे अपनी अन्तर्दृष्टि के बृहत्प्रदर्शक ताल (magnifying glass) द्वारा शतधा, सहस्रधा विशाल बना कर, उसके वर्तमान क्षण में, उसके अमित अतीत तथा प्रतुल भविष्य को प्रतिबिम्बित करके दिखा देता है, बस इसी में उसकी निर्मायकता और भविष्य-वक्तृता का रहस्य है।

कविता आदर्श-मयी भाषा है

और जब हम कविता में उद्भूत होने वाले उक्त तत्त्वों को भली भांति हृद्गत कर चुकते हैं तब हम कविता के उच्चतम लक्षण की ओर अग्रसर होते हैं, जो कविता और जीवन के मध्य विराजमान सम्बन्ध को बहुत ही भव्य रूप में उपस्थित करता है। इस लक्षण के अनुसार कविता आदर्शित भाषा (Patterned language) ठहरती है। इस लक्षण के अनुसार कविता की प्रमुख विशेषता और गद्य से होने वाला उसका भेद इस बात में है कि यह भाषा को आदर्श में परिणत करती

हुई उसे न केवल भावाभिव्यक्ति के सामान्य उद्देश्य के लिए, न केवल अपने उस चमत्कारपूर्ण ध्येय के लिए जिस में अर्थ का प्रकाशन चमत्कारपूर्ण होता हुआ श्रोता तथा पाठक की कलात्मक रुचि को चेतन करता है, व्यवहृत करती है, अपितु उसे इस प्रकार उपयोग में लाती है कि वह पारिष्कारक विधान के (designing)—जिसे हम आदर्श अथवा नमूने के नाम से पुकारते हैं—नियमों में ढल जाती है।

कविता में चमत्कार तथा चमत्कार्य दोनों का अभेद

कविता के उक्त लक्षण को विवृत करने के लिए हम कहेंगे कि जब हम कविता की परिभाषा करते हुए उस में तथा भाषा की उच्चारण और लेखात्मक विधाओं में भेद दर्शाना चाहते हैं, तब हमारे लिए केवल यही कहना पर्याप्त न होगा कि कविता एक ऐसी भाषा है जिसमें विधान (design) हो और जो चमत्कारिणी गरिमा से अन्वित हो, क्योंकि परिष्कार के ये उपकरण तो सभी सुन्दर, उदात्त तथा उन्नत भाषा में पाए जाते हैं। कविता का अपना निज गुण तो कुछ और ही है; इसे चमत्कार अथवा निर्माण सम्बन्धी गुण के नाम से पुकार सकते हैं। क्योंकि सभी वास्तविक कलाओं के मूल में एक बात पाई जाती है और वह यह है कि वास्तविक कला की परिधि में निर्मेय तथा चमत्कार में भेद नहीं रहता; एक ही सत्ता दूसरे की सत्ता को अनिवार्य रूप से सिद्ध करती है; और कलाविषयक इसी तथ्य को कविता पर घटाते

हुए हम कहेंगे कि कविता में नियम और चमत्कार दोनों अभेदात्मक सम्बन्ध द्वारा भाषा में निहित रहते हैं। आदर्श, उस चमत्कृत निर्माण के अभाव में, जिसके द्वारा कि वह अपने आपको इन्द्रियों का विषय बनाता और इस प्रकार हमारे मनोवेगों को तरंगित करता है, विज्ञान का विषय है न कला का। दूसरी ओर, अकेला चमत्करण, उस आदर्श अथवा ढांचे के अभाव में, जिस पर मुद्रित हो वह अपने आपको मूर्त बनाता है—नहीं के तुल्य है। आदर्श और चमत्कार के इस सामंजस्य में ही सौंदर्य का उद्भव है और दोनों के मार्मिक संकलन में ही कला की अर्थवत्ता है। कविता का उक्त लक्षण तो साहित्य की सभी विधाओं पर घटाया जा सकता है, किंतु कविता का वह अपना निज गुण, जो उसे साहित्य की अन्य श्रेणियों से परिच्छिन्न करता है, यह है कि कविता अपने विधान) (Construction) तथा चमत्करण में आदर्श के नियमों पर खड़ी होती है और एक आदर्श का रहस्य इस बात में है कि उसमें आवृत्ति (Repeat) नामक तत्त्व निहित रहा करता है। आदर्श का उद्भव होता है एक आवृत्त अवयव (unit) से; और आदर्श को उत्थापित करने वाले की कलावत्ता केवल इतने ही से व्यक्त नहीं होती कि उसने आवृत्त (Repeat) को यन्त्र-निर्माण (mechanism) की दृष्टि से संपन्न करने में कहां तक सफलता प्राप्त की है, प्रत्युत आवृत्त (Repeat) को इस प्रकार उपयुक्त करने में होती है कि उसके सारे क्षेत्र में, जिसमें कि आवृत्त का प्रसार है, अपना एक निज सौंदर्य तथा अपनी एक अनोखी एकता

जो आवृत्त (unit) अवयव के गुणों से निष्पन्न होने पर भी उन से भिन्न प्रकार की है, उपस्थित हो जाय। सब जानते हैं कि समानाकार बिंदुओं की एक पंक्ति आदर्श का एक अनुद्भूत रूप है। इन बिंदुओं को वर्ग के रूप में लाकर उस वर्ग की आवृत्ति की जा सकती है। इन आवृत्त वर्गों अथवा संघों का फिर से एक विशालतर विधान (design) के रूप में वर्गीकरण किया जा सकता है, और फिर उसकी भी आवृत्ति की जा सकती है; और इस प्रकार यह शृखला चलाई जा सकती है। इतना ही नहीं, जब इस आदर्श की क्लृप्ति यंत्र से न कर हाथ द्वारा की जाती है तब उसमें एक प्रकार की नति (flexibility) का आ जाना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में आवृत्त की सत्ता में किंचित् अन्तर आ जाने पर भी उसके आदर्शपन में तब तक भेद नहीं पड़ता जब तक कि हमें तदंतवर्ती आवृत्ति का, उसके मार्मिक-अंशों में, अनुभव होता रहे। सच पूछो तो कला से उत्पन्न हुए सभी सच्चे आदर्शों (pattern) में इस प्रकार की नति का होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य सा है। यह नति इतनी अधिक हो सकती है कि आवृत्ति को पाने के लिए उसे ढूंढ़ना पड़े, और वह एकमात्र सूक्ष्मदर्शियों के देखने की वस्तु बन जाय।

चित्रकला और संगीत कला के विषय में तो यह बात अनायास समझ में आजाती है, किंतु कवित्वकला के पद्य तथा गद्य के विषय में इसका समझना किंचित् कठिन है। ताल में भेद है किंतु इसमें संशय नहीं कि जिस प्रकार उन

दोनों कलाओं पर यह बात लागू है, उसी प्रकार यह कविता पर भी घटती है। मिल्टन के शब्दों में कविता "वह भाषा है, जिसका आत्मा पद्य में व्याप्त रहने वाला लय है।" यह लय गद्य में भी रहता है और संभव है कादंबरी तथा पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस जैसी रमणीय रचनाओं के गद्य में यह अत्यंत सुन्दर तथा संकुल (intricate) भी संपन्न हुआ हो। किंतु गद्य का ताल पद्य के ताल से भिन्न प्रकार का है। जहां पद्य के ताल में आवृत्ति (Repeat) का रहना अनिवार्य है वहां गद्य में उसका अभाव होता है। यहां तक कि जब गद्य आवृत्ति की ओर झुकता है तब उसमें एक प्रकार की वक्रता आ जाती है और वह पाठकों को अखरने लगता है। वस्तुतः गद्य शब्द का अर्थ ही वह भाषा है, जो अपने ताल में (व्यावहारिक भाषा के समान) बिना आवृत्ति के सीधी चलती हो, जब कि पद्य का वाच्य वह भाषा है जिसमें आवृत्ति हो।

गद्य और पद्य इन शब्दों की व्युत्पत्ति के अनुसार दोनों के वाच्य में मौलिक भेद का होना अनिवार्य है।

सब पद्यमयी रचनाएं भी कविता नहीं हैं

किंतु इन दोनों के बीच में रहने वाला भेद उस भेद जैसा नहीं है जो गद्य तथा कविता में दीख पड़ता है। क्योंकि जहां हम किसी भी गद्यमयी रचना को कविता नहीं कह सकते वहां सब पद्य भी कविता नहीं कहला सकते। माना कि सभी आदर्शित भाषा (patterned language) पद्य है, किंतु उसे कविता का रूप

देने के लिए आदर्श का विधान दक्षता के साथ होना अभीष्ट है और उसमें सौंदर्य की पुट देनी आवश्यक है। इसके विपरीत यदि हम यह कहें कि पद्य और कविता एक ही वस्तु हैं तो हमें कविता में सुरूप तथा कुरूप दोनों ही प्रकार की रचनाओं का समावेश करना होगा; किंतु इसकी अपेक्षा यह कहीं अच्छा हो कि हम कुरूप कविता को कविता के नाम से ही न पुकारें।

आदर्श और कला

आदर्श का यह क्षेत्र, भाषा तथा सामग्री की दृष्टि से जिसके द्वारा कि मानवीय कलाकारिता अपने आपको व्यक्त करती है, बहुत विस्तृत है। इसका विकास एक देश से दूसरे देश में, एक युग से दूसरे युग में और एक सम्प्रदाय से दूसरे सम्प्रदाय में भिन्न-भिन्न होता है, यहां तक कि एक ही कलाकार के हाथ में भिन्न-भिन्न समयों पर, भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के लिए किये गये इसके व्यवहार में भेद पड़ जाता है। इसमें वृद्धि और ह्रास होते रहते हैं। वृद्धि के पश्चात् निश्चेष्टता तथा संहार का युग आता है, और इसमें से नवीन युग की झांकी दीखा करती है। किसी भी राष्ट्र की किसी भी समय की सभ्यता का निदर्शन हमें उसकी ललित कलाओं के मानदण्ड (standard) से हो जाता है, क्योंकि ललित कला राष्ट्रीय जीवन की प्रगति की एक वृत्ति है; यह उसका एक मौलिक अंश है।

सामान्य दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि कला की सत्ता कला के लिए है, किन्तु जीवन के उदात्त

कला और जीवन

लक्ष्य पर ध्यान देते हुए कला की सत्ता भी जीवन के लिए ठहरती है, जिसका कि कला भी एक प्रकार का ललित अवयव है। जिस प्रकार प्रगति की विस्तृत विभिन्नताओं तथा उत्ताल तरंगों में भी हम जातीय आत्मा की स्थूल रूपरेखा को देख सकते हैं उसी प्रकार जाति की प्रगतिशील ललित कलाओं के बहुमुखी विकास में भी हम जातीय जीवन का अध्ययन कर सकते हैं। आदर्शों में कुछ आदर्श तो सब के लिए समान होते हुए भी प्रबल होते हैं; इन पर प्रत्येक कलाकार अपनी कल्पना और कुशलता के अनुरूप अपनी तूलिका चलाता है। इन प्रबल आदर्शों के अरुण में से चहुं ओर भिन्न दिशाओं में अन्यान्य आदर्शों की रश्मियां फूटा करती हैं, जो अविच्छिन्न रूप से आविष्कार, परिष्कार तथा परिवर्तन की प्रक्रिया में गुजरती रहती हैं। इनमें से कुछ आदर्श तो कवियों के प्रयत्नमात्र होते हैं, जिनका परिणाम कुछ नहीं निकलता, दूसरे आदर्श राष्ट्रीय जीवन में जड़ पकड़ जाते और बल पाकर सामान्य आदर्श को बदल तक डालते हैं। इस प्रकार कवित्व-कला वैयक्तिक प्रतिभाओं के प्रभाव से नव-नव रूपों में अभिरूपित होती हुई प्रति क्षण नवीनता धारण करती रहती है।

उक्त विवेचन के परिणामस्वरूप कविता की सामान्य परिभाषा आदर्शित भाषा (Patterned language) अर्थात् कला के द्वारा आदर्श में परिणत हुई शब्द-सामग्री ठहरती है। इस कविता से हमें ऐन्द्रिय तथा बौद्धिक रस की उपलब्धि होती है। यदि हम उक्त

लक्षण के पारिभाषिक पक्ष को छोड़ उसके सार पर ध्यान दें तो कह सकते हैं कि कविता वह कला अथवा प्रक्रिया है, जो भाषा की अर्थसामग्री में से आदर्श घड़कर हमारे सन्मुख प्रस्तुत करती है और वह अर्थसामग्री है एक शब्द में जीवन। हर सच्ची कविता जीवन के किसी अंश या पक्ष को आदर्श के रूप में हमारे सन्मुख उपस्थित करती है; और विश्वजनीन कविता तो जीवन समष्टि के आदर्शधन का निर्माण करके हमें एक क्षण में सर्वद्रष्टा बना देती है।

कविता की इविकर्तव्यता

जिस क्षण हम कवित्वविषयक उक्त सत्य को भली भांति हृद्गत कर लेते हैं, उसी क्षण हमें उन सब बातों का भान हो जाता है जो कवियों ने अपनी रचना कविता के विषय में कही हैं। जीवन का—जैसा उखड़ा-पुखड़ा यह हमारे सम्मुख आता है—कोई आदर्श नहीं, कम-से-कम ऐसा आदर्श नहीं जो निश्चित हो, निर्धारित हो, जिसे हम समझ सकते हों। यह एकांततः बहुमुखी तथा बहुरूपी है; इसके नियम यदि हम उन्हें नियम शब्द से पुकार सकते हैं तो अनियमित तथा औंधे हैं, यह हमारी आशाओं तथा आकांक्षाओं को नहीं सरसाता; कभी-कभी यह हमें ध्येय-विहीन दीख पड़ता है। बहुधा यह, हैमलेट के शब्दों में उखड़ा-पुखड़ा निरी उठ-बैठ ही दीख पड़ता है। यह किसी भी आदर्श को नहीं जन्मता, फिर सुन्दर आदर्श का तो कहना ही क्या। कविता का सर्वोच्च ध्येय, उसका सब से अनोखा कर्म,

नियमों के इस अभाव को, प्रकाश की इस चौंध को, आदर्श में परिणत करना है। उसका कर्तव्य है जीवन के उस अंश अथवा पक्षविशेष को, जिस पर कि उसने अपने कल्पनारूप वृहत्तालयंत्र को केन्द्रित किया है, जीवन के समतल से उभार देना, उसे हमारी आंखों के सम्मुख कर देना; उसे अन्धकार में दीपशिखा की नाईं अचल बनाकर जगमगा देना। और यही काम विश्व के महान् कवि जीवन-समष्टि के विषय में किया करते हैं। उनकी कल्पना का वृहत्तालयन्त्र जीवन के किसी अंशविशेष पर न पड़ उसकी समष्टि पर पड़ता है; उनकी दिव्य रचनाओं में हमें जीवन के किसी परिमित पक्ष विशेष के दर्शन नहीं होते; वहां तो हमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों के जीवन की समष्टि उत्थापित होती दृष्टिगत होती है। शैले ने इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है कि कविता परिचित वस्तुओं को हमारे सम्मुख ऐसे रूप में रखती है, मानो वे हमारे लिए अपरिचित हों। कविता हमारे सम्मुख अनुभूति के व्यस्त पट को एक अनोखे ऐक्योत्पादक प्रकाश में लाकर खड़ा करती है; इसके द्वारा हमें उसके क्रमहीन संकुल तन्तुसमवाय में भी विधाता के नियमित विधान का दर्शन होता है। कविता हमें जीवन को, सौंदर्य की अगणित प्रणालियों में प्रवाहित होने पर भी एक करके दिखाती; यह हमें व्यतिक्रम और व्यत्यास भरे संसार में आशा के साथ जीना सिखाती है।

और इस उच्च दृष्टि से विचार करने पर हमें इस कथन में कि कविता जीवन का उच्चतम विकास है, कोई अत्युक्ति नहीं दीख पड़ती। कविता जीवन के उस घनीभूत, विषदतम प्रयत्न अथवा नैसर्गिक बुद्धि की पराकोटि है, जो समानरूप से अशेष विद्या, सकल अध्ययन, और सब प्रकार की प्रगति के मूल में सन्निहित है; और इसका लक्ष्य है जीवन की स्वाभाविक महत्ता तथा शक्तियों को हृद्गत कराना, उसके द्वारा जगत् पर आधिपत्य प्राप्त कराना और अपने प्रयत्न से प्राप्त की गई संपत्ति पर आत्म-विश्वास के साथ पाठक को डटाना; और इन्हीं सब बातों का नाम दूसरे शब्दों में जीवन है।

: ५ :

छायावाद का क्रम-विकास

(श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी)

छायावाद की कविता के जन्म और विकास के लिए यहां भारतेन्दु युग और द्विवेदी-युग के उन्नायक कवियों के रचना-क्रम को ठीक-ठीक हृदयंगम करने की जरूरत है। इसके लिए हम उस समय के इन कवियों की काव्य-रचनाएं देख सकते हैं—(१) श्रीधर पाठक (२) जयशङ्कर 'प्रसाद' (३) मैथिली शरण गुप्त।

[१]

प्रसादजी और गुप्तजी जब साहित्य में प्रकट भी नहीं हुए थे, उससे बहुत पूर्व पाठकजी हिन्दी के काव्य- साहित्य में अपना सम्मानित स्थान बना चुके थे। सन् १८९९ में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'श्रीधर-सप्तक' लिखकर पाठक जी का काव्याभि-नन्दन किया था। इस प्रकार पाठकजी जब हिन्दी कविता में अपना निश्चित स्थान बना चुके थे तब द्विवेदी जी का सम्पादन-कार्य भी नहीं आरम्भ हुआ था। पाठक जी का काव्य-काल भारतेन्दु-युग का सीमान्त है। तब भी ब्रजभाषा का सम्मोह बना हुआ था, यद्यपि देश की नई परिस्थितियां जिस तरह साहि-त्य को नया क्षेत्र दे रही थीं, उसी तरह नई भाषा भी। ब्रजभाषा

भक्तों के हाथ से श्रृंगारिकों के हाथ में जाकर मध्ययुग के ऐश्वर्य्योल्लास के अनुरूप बन गई थी, किन्तु नई परिस्थितियों के अनुकूल नई भाषा को बनाना एक प्रश्न था। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद होने लगे थे। गद्य में खड़ीबोली ने स्थान बना लिया था, किन्तु काव्य में उस का प्रवेश विचाराधीन था। असल बात यह है कि व्यावहारिक जीवन के कारण गद्य तो अपने आप बनता जा रहा था, किन्तु हमारा मानसिक जीवन ब्रजभाषा में ही बसा हुआ था। अपने अभावों को हमने खड़ी बोली में सोचना आरम्भ कर दिया था, किन्तु भावों को खड़ी बोली के सांचे में ढालना नहीं सीख पाया था। अदालतों की भाषा की तरह खड़ी बोली हमारे काव्य से दूर पड़ी हुई थी, काव्य के लिए उसमें साहित्यिक सौन्दर्य्य के सृजन का आरम्भ नहीं हो सका था। ब्रजभाषा कविता के लिए बनी-बनाई भाषा थी, खड़ी बोली अनगढ़ थी। अतएव, जहां कविता के लिए कुछ लोग उसको भी गढ़ने की आवश्यकता अनुभव कर रहे थे, वहां कुछ लोग उसके काव्य-भाषा होने में ही सन्देह करते थे। ऐसे ही वातावरण में पाठक जी का कवित्व प्रस्फुटित हुआ। पाठकजी के सामने ब्रजभाषा का सम्मोहन और खड़ी बोली का निमन्त्रण, दोनों ही थे। उन्होंने दोनों ही का सम्मान रखा। दोनों का सहयोग किया। भाषा के सौन्दर्य और माधुर्य के लिए उन्होंने निःसंशय ब्रजभाषा को अपनाया, पद-विन्यास में ओज लाने के लिए खड़ी बोली के छन्दों को अपनाया और भाव-

विस्तार के लिए (व्रजभाषा की एकरसता भंग करने के लिए) मनोवाञ्छित अंग्रेज़ी काव्यों का अनुवाद किया। व्रजभाषा, खड़ी बोली और अंग्रेज़ी इन विविध उपादानों के व्यञ्जन में व्रजभाषा की मधुर सरलता ने ही प्रधान होकर उनके काव्य को रसात्मक कर दिया। यों कहें, पाठक जी एक कोमल-आधुनिकता के कवि थे, उनके द्वारा मानों अविकच खड़ी बोली ही व्रजभाषा की सुकुमार आधुनिकता बन गई। काव्य में भारतेन्दु-युग व्रज-भाषा का अन्त है, द्विवेदी-युग खड़ी बोली का उदय है, इसी अस्तोदय की द्वाभा पाठकजी की कविता है।

[२]

तो, द्विवेदी-युग के उदय के पूर्व, हिन्दी कविता में व्रजभाषा प्रधान थी। जिसके दो रूप थे— एक तो रीतिकालीन, दूसरे भार-तेन्दु युगीय। भारतेन्दु ने रीति-काल को 'सुन्दरी तिलक' व्रज-भाषा-काव्य-संग्रह) के रूप में अपनाया, स्वयं भी उस ढंग की कविताएं लिखीं। इसके अतिरिक्त, साधारण जनता के भीतर प्रचलित काव्य-प्रवृत्तियों (भक्तों के पद से लेकर चैती, कजरी, लावनी, ख्याल, गजल) का भी संकलन किया। यह मानों भार-तेन्दु की ओर से मध्ययुग की कविता और मध्ययुग की जनता को लिपिबद्ध कर लेने का प्रयत्न था, पुरानी रक़म को वही पर सही कर लेने का आयास।

इसके अतिरिक्त, भारतेन्दु जिस युग में उत्पन्न हुए थे उसका अपना भी कुछ तक़ाज़ा था। वह युग भारत में ब्रिटिश शासन के

शशव का था, मानों आधुनिकता की तुतलाहट का युग था। इस युग ने हमारे जीवन और साहित्य में भी जो एक नवीन शिशु-प्रेरणा उत्पन्न की, उसी का परिणाम है भारतेन्दु की राष्ट्रीय रचना और रीतिकाल से भिन्न उनकी वह मुक्तक काव्य-शैली, जिसके अन्तर्गत 'नारद की वीणा' और 'गंगा का वर्णन' इत्यादि आते हैं। जिस ब्रजभाषा में षड्ऋतु-वर्णन और नायिका-निरूपण था, उसमें इस प्रकार के काव्य-परिवर्त्तन ने एक नूतन चित्रपट प्राप्त किया।

भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि साहित्यिकों में से कुछ ने भारतेन्दु-युग की समस्त काव्य-प्रवृत्तियों को ग्रहण किया,* कुछ ने उस युग की किसी प्रवृत्ति विशेष को। कुछ ने रीतिकालीन काव्य-कला से अपना प्रारम्भ कर भारतेन्दुकालीन नई काव्य-कला का उत्कर्ष किया। भारतेन्दु-युग की नई काव्य-कला की ओर आने वाले दो विशेष कवि पाठक जी और रत्नाकर जी हैं। आज की भाषा में यदि हम कहें तो पाठक जी भारतेन्दु-युग के प्रगतिवादी साहित्यिक थे, रत्नाकर जी अपरिवर्तनवादी। व्यक्ति-चित्र की दृष्टि से यदि हम देखें तो दोनों के बाह्य वेश-विन्यास में जितना अन्तर है उतना ही काव्य-कला में भी। रत्नाकर जी कट्टर अपरिवर्तनवादी थे। उन्होंने भारतेन्दु-कला के माध्यम से रीतिकाल का विकास

---

* यहां हम स्व० श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' को स्मरण कर सकते हैं जो भारतेन्दु जी के प्रतिरूप थे।

किया, पाठकजी ने प्रारम्भिक आधुनिक काल के माध्यम से भारतेन्दु-कला का। पाठकजी ब्रजभाषा को खड़ी बोली की ओर ले जा रहे थे, रत्नाकरजी खड़ी बोली को भी ब्रजभाषा की ओर ले जाना चाहते थे। ब्रजभाषा में खड़ी बोली का ओज लाने के प्रयत्न में रत्नाकरजी की भाषा परुष हो गई है और खड़ी बोली में ब्रजभाषा का माधुर्य लाने के प्रयास में पाठकजी की भाषा सुकुमार। एक ओर रत्नाकरजी ब्रजभाषा की क्षमता बढ़ाने में लगे हुए थे, दूसरी ओर पाठकजी ब्रजभाषा को नवीन शरीर (खड़ी बोली) देने में।

[३]

किन्तु विकास की इन विभिन्न भूमियों में कविता ब्रजभाषा में ही खिल रही थी। यहां तक कि वर्तमान खड़ी बोली की कविता के पुराने आचार्य कवि प्रसादजी और गुप्तजी भी जब प्रथम-प्रथम अपनी रचनाएं लेकर आए तो ब्रजभाषा में ही। हां, गुप्तजी ने किसी साहित्यिक सुयोग-वश नहीं, बल्कि अपने पिता की काव्य परम्परा से ब्रज-भाषा की प्रेरणा ली थी। उस समय ब्रज-भाषा में उन्होंने जो कविताए लिखीं, वे पुरानी अन्योक्ति-पद्धति में थीं। साहित्यिक सुयोग-वश कविता लिखने का समय तो गुप्तजी के लिए द्विवेदीजी के सम्पादन-काल में ही आया। उन्हें तो द्विवेदी-युग या खड़ी बोली की कविता का श्रेय मिलना था, अतएव अपनी भावी सरस्वती की उपासना में उन्होंने ब्रजभाषा का अक्षरारम्भ मात्र किया। किन्तु प्रसादजी ने ब्रजभाषा का

अक्षरारम्भ ही नहीं किया, बल्कि उनका प्रारम्भिक साहित्य भी उसी में बना। यों कहें, प्रसाद हमारे साहित्य में भारतेन्दु-युग का विकास लेकर आए, गुप्तजी द्विवेदी-युग का प्रारम्भ। कालान्तर से गुप्तजी द्वारा जब द्विवेदी-युग का भी काव्य-विकास होने लगा तब प्रसाद ब्रजभाषा से खड़ी बोली में आ गए। वे भारतेन्दु और द्विवेदी-युग के सन्धि-स्थल के विकासमान कवि हैं। प्रसाद की भांति जो ब्रजभाषा से खड़ी बोली में नहीं आ सके, उनमें भारतेन्दु-युग का संस्कार बना रहा। ऐसे कवियों में सर्वश्री राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और कविरत्न सत्यनारायण उल्लेखनीय हैं।

कविता में खड़ी बोली के स्थान बना लेने के पूर्व भारतेन्दु-युग के सीमान्त में, नवयुवक कवियों के आदर्श कवि पाठकजी थे। प्रसाद के भी वे प्रिय कवि थे। अपनी ब्रजभाषा की कविताओं के विकास में वे पाठकजी की कविता से प्रेरित थे। प्रसादजी का रचना-काल यदि बहुत पीछे जाकर देखें तो संवत् १९६२ या सन् १९०५ है। यह लगभग वह समय है जब प्रसाद जी ने अपने 'प्रेम-पथिक' (खण्डकाव्य) की रचना पहले ब्रजभाषा में ही की थी। संवत् १९७० में खड़ी बोली में 'प्रेम पथिक' (अतुकान्त) का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। उसी की संक्षिप्त भूमिका में निर्देश किया गया है कि यह काव्य ६ वर्ष पहले ब्रजभाषा में लिखा गया था। इसके पूर्व की किसी रचना का परिचय नहीं मिलता। अतएव, यहां हम यह देख सकते हैं कि प्रसाद को संवत् १९६२ (सन् १९०५) तक हिन्दी-

कविता का कौन-सा पृष्ठभाग मिल चुका था। यहां स्पष्ट रूप से पाठकजी का काव्य-विकास सामने आता है। सन् १६०४ तक पाठकजी की ये महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशित हो चुकी थीं—(१) 'एकान्तवासी योगी' (खड़ी बोली में अनुवादित खण्डकाव्य, सन् १८८६); (२) 'ऊजड़ गाम' (ब्रजभाषा में अनुवादित खण्ड-काव्य, सन् १८८६); (३) 'श्रान्त पथिक' (अनुवादित खण्डकाव्य सन् १६०२); (४) 'काश्मीर-सुषमा' (मौलिक वर्णनात्मक काव्य, सन् १६०४), इसके अतिरिक्त (५) 'देहरादून' (मौलिक वर्णनात्मक काव्य, संवत् १६७२)। पाठकजी की मुक्तक कविताओं के भी कई संग्रह हैं। किन्तु पाठकजी का कवित्व उनके खण्ड-काव्यों में भी घनीभूत है। मुक्तक की कोई विशेष शैली वे दे नहीं सके, हां, आलम्बन अवश्य नये दिये हैं। पाठकजी की कृतियों द्वारा भारतेन्दु-युग का काव्य-साहित्य अपेक्षाकृत अवश्य प्रशस्त हुआ। उनके द्वारा प्रबन्ध-काव्यों की नूतन प्रेरणा आई, साथ ही आलम्बनों के परिवर्त्तन से मुक्तक क्षेत्र में भी नवोद्-भावना की आवश्यकता सूचित हुई।

इसी काव्यपृष्ठ पर प्रसाद का रचना-काल प्रारम्भ होता है।

जिस प्रबन्धात्मक शैली का श्रीगणेश पाठकजी ने अंग्रेजी के अनुवादों से किया, गुप्तजी ने बंगला के अनुवादों से उसकी श्रीवृद्धि की। गुप्तजी ने मुक्तक शैली को भी उत्कर्ष दिया। किंतु यह संयोग की बात है कि पाठकजी की भांति गुप्तजी का भी कवित्व उनके प्रबंधकाव्यों में ही घनीभूत है।

प्रबन्धात्मक शैली कथा-परक प्रवृत्ति की द्योतक है। इसी प्रवृत्ति ने मुक्तकों को भी इतिवृत्तात्मक बना दिया। खड़ी बोली में गुप्तजी ने जिस 'पद्य-प्रबन्ध' की रचना की, उनके मुक्तकों ने उसी का विकास किया। मध्यकाल के शृंगारिक आलम्बनों से भिन्न भारतेन्दु और पाठकजी ने अपने मुक्तकों में जो सामाजिक और राष्ट्रीय आलम्बन दिये, निःसन्देह गुप्तजी द्वारा उन नये आलम्बनों को परिपूर्णता मिली। किन्तु भारतेन्दु और पाठकजी ने मुक्तक शैली को नवीन भावात्मक स्पर्श भी दिया था। भारतेन्दु की 'नारद की वीणा' और 'गंगा-वर्णन' तथा पाठकजी की 'काश्मीर-सुषमा' में इसका आभास मिलेगा। खड़ी बोली में इस भावात्मक मुक्तक के अभ्युदय की प्रतीक्षा थी। प्रसादजी भारतेन्दु-युग के सीमान्त (पाठकजी) से इसी ओर आ रहे थे। जब खड़ी बोली में भावात्मक मुक्तक का उत्कर्ष हुआ, तब गुप्तजी की प्रबन्धात्मक रचनाओं में भी उसका समावेश हुआ। इसके पूर्व, हम प्रसाद की काव्य-प्रगति देखें।

[४]

ब्रजभाषा में प्रसादजी जो कविताएं लिख रहे थे, उसके दो रूप थे—वर्णनात्मक और भावात्मक। उनकी वर्णनात्मक कविता भारतेन्दु-युग की सूचक है और भावात्मक कविता भारतेन्दु-युग के विन्यास में उनके नवोन्मेष की।

पाठकजी के काव्यानुवादों ने प्रसाद में खण्डकाव्य की रुचि जगा दी थी; उनकी वर्णनात्मक कविता ने उनके छोटे-छोटे खण्ड-

काव्यों ('प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व', 'करुणालय') में खड़ी बोली की नवीन शैली ग्रहण की। उनकी यह कथा-परक रुचि विविध रूपों में विकसित होती गई—चम्पू, नाटक, कहानी, उपन्यास। किन्तु प्रसादजी मुख्यतः भाव-प्रवण साहित्यिक थे, अपनी सभी प्रकार की कृतियों में। ब्रजभाषा से खड़ी बोली का विन्यास ग्रहण करने पर उनकी भावात्मक कविता ने ही विकास किया, मुक्तकों में ही नहीं, प्रबन्ध-काव्यों में भी, उनका 'कामायनी' महाकाव्य भी भावप्रधान है, वस्तु (कथा) प्रधान नहीं। उनकी गद्यकृतियां भी भावप्रधान हैं।

उनकी गद्य-पद्यमयी कृतियों का आद्य संग्रह 'चित्राधार' है, जिसका रचना-काल संवत् १९६६-६८ (सन् १९०९-११ ई०) निर्दिष्ट किया गया है। काशी के अस्तङ्गत मासिक 'इन्दु' में 'चित्राधार' से कुछ पूर्व की भी कविताएं प्रकाशित हैं, भारतेन्दु-कालीन वर्णनात्मक शैली में। ये कविताएं मानों भारतेन्दुकालीन काव्यशैली के पद्य-प्रबन्ध हैं। तब तक खड़ी बोली का 'पद्य-प्रबन्ध' नहीं बन सका था।

ब्रजभाषा के पद्य-प्रबन्ध से 'चित्राधार' तक आते-आते प्रसाद को ब्रजभाषा में नवीन भावात्मक मुक्तक का अभाव अखरने लगा था। संवत् १९६७ के मासिक 'इन्दु' में उन्होंने एक लेख लिखा था—'कवि और कविता।' उस लेख में उनका यह मन्तव्य ध्यान आकर्षित करता है—"सामयिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके जो समाज के भाव बदल रहे हैं उनके अनुकूल कविताएं नहीं

मिलतीं और पुरानी कविता को पढ़ना तो महादोष-सा प्रतीत होता है, क्योंकि उस ढङ्ग की कविताएं तो बहुतायत से हो गई हैं।"—यह है प्रसाद की नवीन काव्य-प्रेरणा। यहीं से प्रसाद के भीतर, (उन्हीं के कथनानुसार 'पाश्चात्य' शैली पर) नवीन काव्योद्-भावना की रुचि उत्पन्न होती है। तदनुकूल उन्होंने जो नवीन भावात्मक मुक्तक लिखे, उनका संकलन भी 'चित्राधार' में मिलता है। कुछ पंक्तियां सामने हैं—

नीरव प्रेम

प्रथम भाषण ज्यों अधरान में—
रहत है तऊ गूँजत प्रान में—
तिमि कहौ तुम हूँ चुप धीर सों—
विमल नेह-कथान गंभीर सों—
कछुक हौ, नहिं पै लहि जात हौ
कछु लहौ, नहिं पै लहि जात हौ॥

विस्मृत प्रेम

सबहिं विस्मृत सिन्धु-तरंग में
प्रणय की लिपि धोइ उमंग में
यदपि उज्ज्वल चित्त कियो निजै
तदपि क्यों नहिं राग तजौ अजौं!

अंग्रेजी के साहचर्य से भारतेन्दु-युग को पाठकजी जो नवीन कवित्व दे रहे थे, प्रसाद की उक्त पंक्तियों में उसी का किशोर कण्ठ है।

प्रसादजी ने जिस समय (संवत् १९६७) व्रजभाषा में ये पंक्तियां लिखी थीं, उस समय गुप्तजी खड़ी बोली में आ चुके थे, लोकप्रिय होने लगे थे। प्रसादजी के उक्त लेख में ही गुप्तजी की 'केशों की कथा' का उल्लेख है। 'केशों की कथा' खड़ी बोली का रसोद्रेक करने में सहृदयों की संवेदनशीलता पा गई थी। इसके अतिरिक्त गुप्तजी कृत 'रंग में भंग' (प्रथम संस्करण सन् १९०९) और 'जयद्रथ-वध' (प्रथम संस्करण सन् १९१०) नामक खण्डकाव्य भी प्रकाशित हो चुके थे। हम देखते हैं कि पाठक जी के बाद गुप्तजी द्वारा कविता के पूर्णतः खड़ी बोली में आ जाने पर भी प्रसादजी व्रजभाषा में ही काव्य-रचना कर रहे थे। एक ओर खड़ी बोली में गुप्तजी वर्णनात्मक-मुक्तक और प्रबन्ध-काव्य लिख रहे थे, दूसरी ओर प्रसादजी व्रजभाषा में नवीन भावात्मक-मुक्तक। व्रजभाषा के भीतर एक अभिनव काव्य संस्कार लेकर भी प्रसाद खड़ी बोली के आते ही खड़ी बोली में ही क्यों नहीं काव्य-रचना करने लगे? इसका कारण यह है कि जिस भाषा से उन्होंने प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा ली थी, उस भाषा पर उनका विशेष मोह था। कदाचित् उनके भीतर व्रजभाषा और खड़ी बोली के बीच एक स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा भी थी। हृदय के दाहिने और बाएं पार्श्व की भांति उनके भीतर पुरातन और नूतन दोनों संस्कार स्पन्दित हो रहे थे। यों कहें, वे एक पुरोगामी-प्रगतिशील साहित्यिक थे। 'इन्दु' में प्रकाशित उल्लिखित लेख में आगे उन्होंने लिखा है—"पर नहीं, उनसे (पुरानी कवित्ताओं से)

घबड़ाना नहीं चाहिए, उनके समय के यही भाव उज्ज्वल गिने जाते थे और अब भी पुरातत्त्व की दृष्टि से उन काव्यों को पढ़ने में अलौकिक आनन्द मिलता है।"—उनका यही पुरातन संस्कार उनके ऐतिहासिक नाटकों में प्रकट हुआ।

प्रसाद की साहित्यिक गतिविधि यह थी कि अपने समय के प्राप्त साहित्य से वे आरम्भिक प्रेरणा ग्रहण करते थे, फिर साहित्य के नूतन परिष्कार के आ जाने पर उसे भी अपना लेते थे। इस प्रकार साहित्य के तीन युगों में वे अपने पग रख चुके हैं—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग। चतुर्थ युग (प्रगतिशील-युग) के आते-आते वे साहित्य से ही नहीं, संसार से भी चले गये। फिर भी अपने नाटकों में प्रगतिशील साहित्य की भी कुछ-कुछ प्रेरणा वे ले चुके थे, किन्तु मुख्यतः उनकी आस्थाएं प्राचीन थीं।

छायावाद के वर्तमान कवियों में प्रसाद आयुष्य में सबसे बड़े होकर भी साहित्य में छोटे होकर चल रहे थे—व्रजभाषा में वे पाठक जी के बाद प्रविष्ट हुए, खड़ी बोली में गुप्तजी के बाद। हां, वे छोटे रहकर ही अपने विविध समयों का तारुण्य ग्रहण करते थे और साहित्य में जब उनसे भी छोटे आ जाते थे तब वे उनके विकास से जा मिलते थे। इस भांति भारतेन्दु-युग से चल कर, द्विवेदी-युग को पार कर, छायावाद-युग में वे पन्त, निराला के नूतन काव्य-प्रयत्नों में भी सम्मिलित हो गये थे, 'लहर' द्वारा।

प्रसाद ने ब्रजभाषा में जिस नवीन भावात्मक-मुक्तक की सृष्टि की, उसके लिए खड़ी बोली की भाषा नहीं बन सकी थी। गुप्तजी भाषा बना रहे थे। एक प्रकार से द्विवेदी युग की सम्पूर्ण रचनाएं खड़ी बोली को रच रही थीं। हां, गुप्तजी भाषा भी रच रहे थे और भाव भी; मानों परिधान में गोट लगा रहे थे। उन्होंने पहले तो खड़ी बोली के 'पद्य-प्रबन्ध' की रचना की, फिर पद्य-प्रबन्ध से प्रबन्ध-काव्य की ओर उन्मुख हुए। सम्भवतः सन् १९०८ से वे खड़ी बोली की रचना आरम्भ करते हैं और सन् १९१५ तक सात-आठ वर्षों में उसका भी एक काव्य-साहित्य प्रस्तुत कर देते हैं। इतिवृत्तात्मक मुक्तक और प्रबन्धात्मक मुक्तक (गीतिकाव्य) की ओर भी वे उन्मुख हुए। 'झङ्कार' उनके गीतिकाव्यों का संग्रह है, जिसमें उस समय के गीतिकाव्य भी सम्मिलित हैं।

गुप्तजी की कविताओं द्वारा खड़ी बोली का प्रचार हो जाने पर प्रसाद भी ब्रजभाषा से खड़ी बोली में आ गये। 'चित्राधार' को भारतेन्दु-युग में छोड़कर हम 'कानन-कुसुम' से प्रसाद को खड़ी बोली (द्विवेदी-युग) में प्रवेश करते देखते हैं। 'कानन-कुसुम' संवत् १९६६-७४ तक की कविताओं का सग्रह है। इसी बीच (संभवतः संवत् १९६८ में) खड़ी बोली में उनका रचना-काल प्रारम्भ होता है। स्पष्ट है कि खड़ी बोली में वे गुप्तजी के बाद बहुत विलम्ब से नहीं आये। यह भी स्पष्ट है कि खड़ी बोली की अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में वे गुप्तजी से प्रेरित भी थे। फिर भी खड़ी बोली को अपना व्यक्तित्व भी देने में सयत्न थे।

'कानन-कुसुम' में ही उन्होंने अतुकान्त कविता का श्रीगणेश कर दिया था, जिसने आगे चलकर उनके छोटे-छोटे खण्डकाव्यों ('प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व' और 'करुणालय') में अपना विशेष स्थान बनाया।

'कानन-कुसुम' में ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों की कविताओं का संग्रह है। ब्रजभाषा में प्रसाद जिस भावात्मक-मुक्तक (लिरिक कविता) की ओर उन्मुख थे उसे नई भाषा देने के लिए 'कानन-कुसुम' उनकी ओर से खड़ी बोली की अपनी तैयारी-मात्र है। वह उनकी खड़ी बोली की काव्य-प्रवेशिका है। इसके बाद खड़ी बोली में उनके गीतिकाव्य का प्रथम रूप 'झरना' द्वारा प्रकाशित हुआ। जिस भावात्मक मुक्तक को वे ब्रजभाषा में छोड़ आये थे, 'झरना' में मानों उसका पुनर्जन्म हुआ, एक नये आकार-प्रकार में। 'झरना' के बाद प्रसाद उत्तरोत्तर नवीन काव्य-कला की ओर ही अग्रसर होते गये। 'झरना' तो उनके नूतन कवित्व का आदि-स्रोत है।

'झरना' (प्रथम संस्करण) की कविताओं का समय संवत् १९७१-७२ है। 'झरना' के बहुत बाद सन् १९३५ में उनका 'लहर' नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ। 'झरना' और 'लहर' के बीच में उन्होंने जिन मुक्तक कविताओं की रचना की थी, वे 'लहर' में न संगृहीत होकर या तो उनके नाटकों में सम्मिलित हो गई या 'झरना' के नये संस्करणों में। बीच की उन कविताओं का 'झरना' में सम्मिलित हो जाना अनुचित नहीं हुआ, क्योंकि

उनमें 'झरना' के कवित्व का ही विकास है; 'लहर' में तो उन्होंने उस काव्य-विकास (नई हिन्दी-कविता के द्वितीय उत्थान) को ग्रहण किया जो प्रसाद के परवर्त्ती काल में पन्त और निराला की कविताओं से प्रस्फुटित हुआ था। हां, 'झरना' में संगृहीत नई कविताओं का समय-निर्देश न होने के कारण उसके आदिरूप को समझने में भ्रम हो सकता है।

हम देखते हैं कि प्रसाद के 'झरना' का लगभग वही समय पड़ता है जो गुप्तजी के 'झङ्कार' की उन गीति-कविताओं का जो प्रायः सन् १९१४-१५ में 'सरस्वती' में छपी थीं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस नवीन भावात्मक मुक्तक के क्षेत्र में गुप्तजी प्रसाद से या प्रसादजी गुप्तजी से प्रेरित थे। दोनों का प्रेरणा-केन्द्र अन्यत्र जान पड़ता है। प्रसादजी ने जैसा कि लिखा था—"साम-यिक पाश्चात्य शिक्षा का अनुकरण करके समाज के भाव बदल रहे हैं"—इसी का परिणाम यह नवीन भावात्मक-मुक्तक था। यह भाव-परिवर्त्तन भारतेन्दु-युग में ही शुरू हो गया था। उस युग के स्वर्गीय गोस्वामी किशोरीलाल जी ने शेली (Shelley) की एक कविता का ब्रजभाषा में अनुवाद भी किया था। इसी लिए हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (झांसी) के सभापति-पद से बूढ़े गोस्वामी ने कहा था—'मैंने चालीस वर्ष पहले छायावाद लिखा था।'

हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि सर्वप्रथम बंगाल इस भाव-परिवर्त्तन की दिशा में अग्रसर और उन्नत हो चुका था। यों

तो गुप्तजी खड़ी बोली की वर्तमान कविता के पूर्वपृष्ठ हैं, भाषा के संस्कारक हैं। किन्तु भाषा के बाद जब भाव की ओर भी ध्यान गया तो निःसंशय गुप्तजी और प्रसाद जी दोनों ने एक ही समय में बंगीय साहित्य पर भी दृष्टिपात किया। आधुनिकता की दृष्टि से हिन्दी से बाहर के इस साहित्य की जिस सतह पर जो अपने को अवस्थित कर सका, वह उसी सतह का प्रभाव अधिक ग्रहण कर सका। गुप्तजी की साहित्यिक आधुनिकता माइकेल और नवीनचन्द्र सेन की दिशा में थी; प्रसाद और उनके बाद के छायावादी कवियों की आधुनिकता रवीन्द्रनाथ की दिशा में। निःसन्देह ब्रजभाषा के बाद काव्य की रसात्मकता का विकास बंगला में ही हुआ। हिन्दी कविता की भाषा बदल जाने के कारण खड़ी बोली की कविता किसी जीवित काव्योचित भारतीय भाषा से ही मनोहरता ग्रहण कर, अपनी मराठी की-सी शुष्कता को आर्द्र कर सकती थी। खड़ी बोली को बंगला एक ऐसी ही भाषा मिली। संस्कृत की संस्कृति एक दूसरे को निकट लाने में सहायक हुई।

[५]

तो द्विवेदी-युग की आधुनिकता माइकेल और नवीनचन्द्र-सेन की दिशा में थी; अभिव्यक्ति नवीन होते हुए भी काव्य-वस्तु पुरानी थी। तब तक हमारे आधुनिक जीवन का इतना प्रसार नहीं हो सकता था कि हम इसी के भीतर से काव्य के उपादान लेकर नई अभिव्यक्ति को नया जीवन भी देते। बाह्य विन्यास की

भांति साहित्य में अंग्रजो अभिव्यक्ति तो आ चली थी किंतु हम वर्त्तमान में रह कर भी अतीत में थे। बंगला-काव्य की यह प्रगति द्विवेदी-युग की खड़ी बोली के अनुकूल थी। 'विरहिणी-ब्रजांगना', 'मेघनाद-वध' और पलासी का युद्ध' का अनुवाद इसीका सूचक है।

इसके बाद की काव्य-प्रगति रवीन्द्रनाथ की है। हमारे साहित्य में द्विवेदी-युग के बाद की आधुनिकता छायावाद के रूप में रवीन्द्रनाथ द्वारा आई। रवीन्द्रनाथ की काव्य-प्रेरणा से मुक्तक और गीति-काव्य को विशेष उत्कर्ष मिला। वर्तमान भारतीय साहित्य के वे सर्वप्रथम रोमैन्टिक कवि हैं और अपने बाद को 'पीढ़ियों के गुरुदेव'। वे हमारे वर्तमान वाङ्मय के 'कविर्मनीषी' हैं। रवीन्द्रकी प्रेरणा से पूर्व के कवियों का हम अंग्रेजी के 'रोमैन्टिक, रिवाइवल' से पूर्व के कवियों में रख सकते हैं। रवीन्द्र-काव्य से न केवल अभिव्यक्ति में, बल्कि काव्य के आलम्बनों में भी नवीनता आई। सन् १६१३ में 'गीताञ्जलि' पर नोबल-पुरस्कार (Nobel-Prize) पाने पर विश्व-साहित्य का ध्यान उनकी ओर गया और हमारे अन्तःप्रान्तीय साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ने लगा। गुप्तजी भी इस प्रभाव से अस्पृश्य नहीं रहे, उनके 'झंकार' में यत्र-तत्र रवीन्द्र साहित्य का प्रभाव स्पष्ट है।

तो सन् १६१४-१५ में वह जो नवीन भावात्मक-मुक्तक अवतीर्ण हुआ (जिसका नामकरण अब निश्चित रूप से 'छायावाद' हो गया), उसी का विकास द्विवेदी-युग के बाद के काव्य में होता गया। द्विवेदी-युग के काव्य-कानन में उस गीति-काव्य ने

विकसित वसन्त (छायावाद) का मुकुल दिया था। जिस प्रकार भारतेन्दु युग के भीतर से प्रसादजी छायावाद की ओर आ रहे थे, उसी प्रकार द्विवेदी-युग के भीतर से भी छायावाद के नये कवि जन्म ले रहे थे—पन्त और निराला। यह एक संयोग की बात है कि इनका रचना-काल सन् १९१५-१७ से प्रारम्भ होता है। उस समय तक द्विवेदी-युग में जो नवीन मुक्तक आ गया था उसी को विकसित रूप-रंगों में साकार करने के लिए इनका आविर्भाव हुआ। उस समय ये छायावाद का शैशव ग्रहण कर रहे थे। यह शैशव प्रसादजी के 'झरना' से प्रभाव-रहित था। हां, इनकी आरम्भिक प्रेरणा का श्रेय गुप्तजी की कविताओं को दिया जा सकता है। सच तो यह है कि आरभ में खड़ीबोली का संस्कार सबको गुप्तजी से ही मिला। पन्त और निराला ने भी प्रसाद की भांति ही द्विवेदी-युग (गुप्त-काव्य) से खड़ी बोली का काव्य-संस्कार लिया। अन्तर यह है कि प्रसाद का कण्ठ खड़ी बोली में खुल चुका था, ये अपना कण्ठ खोल रहे थे। इसके बाद जिन प्रेरणा-केन्द्रों (बंगला और अंग्रेजी) से द्विवेदी-युग में नवीन भावात्मक मुक्तक का दर्शन हुआ, उन्हीं प्रेरणा-केन्द्रों से पन्त और निराला ने भी अपने भावी विकास का श्रीगणेश किया।

उस समय प्रसाद की रचनाओं से भी प्रेरित होकर कतिपय युवक कवि नवीन काव्य-क्षेत्र में अवश्य आए—सर्वश्री मुकुटधर पाण्डेय, गोविन्दवल्लभ पन्त, स्व० शिवदास गुप्त 'कुसुम'। ब्रज-भाषा का माधुर्य संस्कार खड़ी बोली में लेकर आने के कारण

गुप्तजी की अपेक्षा प्रसाद की कविता की ओर इन युवक कवियों का अधिक झुकाव हुआ। मुकुटधर गुप्तजी से भी प्रेरित थे। अर्थात् उन्हें भाषा-संस्कार गुप्तजी से और भाव-संस्कार प्रसादजी से प्राप्त था। यह उनकी प्रारम्भिक प्रेरणाएं हैं, इसके अतिरिक्त उनमें अपने भी स्वाध्याय का व्यक्तित्व था। खेद है कि असमय में ही उनका काव्य-स्रोत सूख गया। द्विवेदी युग में वे प्रथम प्राञ्जल कवि हैं, जैसे छायावाद-युग में पन्त जी।

गुप्तजी द्वारा कविता के खड़ी बोली में आ जाने पर एक अन्य कवि ने भी अपने व्यक्तित्व का आरम्भ किया था। वे हैं श्री माखनलाल चतुर्वेदी, 'एक भारतीय आत्मा'। जिस प्रकार प्रसाद की रचनाओं से प्रेरित होकर उल्लिखित कवि आये थे, उसी प्रकार चतुर्वेदीजी की रचनाओं से भी प्रेरित होकर कुछ नवयुवक कवि आ गये थे—सर्वश्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, गोकुलचन्द्र शर्मा, उदयशङ्कर भट्ट, इत्यादि। प्रसाद-वर्ग की अपेक्षा इस वर्ग के कवि साहित्य में अधिक गतिशील रहे। पन्त और निराला के आगमन के पूर्व चतुर्वेदी-वर्ग ही द्विवेदी-युग से भिन्न कविता को अग्रसर कर रहा था; यों कहें, गुप्तजी को रोमैन्टिक रूप दे रहा था। यह कवि-समूह भाव-विदग्ध उतना नहीं था जितना वाग्विदग्ध; यह वक्तृत्व-प्रधान था। गुप्तजी ने हमारे काव्य-साहित्य को सामूहिक चेतना दे दी थी, इन नये कवियों ने मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूतियों को भी उद्गार दे दिया। हमारे काव्य-साहित्य में आज

भी इन कवियों का कण्ठ मुखरित है।

जिस भावात्मक-मुक्तक का विकास छायावाद के नाम से हुआ, निःसन्देह द्विवेदी-युग में उसका कवित्व उतना घनीभूत नहीं हुआ। प्रसाद-काव्य से प्राप्त प्रेरणा का स्थान उस युग में इतना ही है जितना इस युग में निराला के गीति-काव्य का। छायावाद के घनीभूत कवित्व के लिए समय की अपेक्षा थी, प्रसाद इसी की पूर्वसूचना थे। असल में जिस प्रकार खड़ी बोली की भाषा बन जाने पर हमारे साहित्य में प्रसाद आये, उसी प्रकार प्रसाद और गुप्त के सम्मिलित प्रयत्न से खड़ीबोली में व्यञ्जकता आ जाने पर छायावाद के उन्नायक कवि उदित हुए। जैसा कि पहले कहा है, पन्त और निराला ने द्विवेदी युग से काव्य-संस्कार लिया तथा गुप्त और प्रसाद की भांति हिंदी से बाहर का विस्तार। यह विस्तार रवीन्द्रनाथ के माध्यम से विश्व-काव्य तक पहुंचा।

[६]

पन्त और निराला से पहले प्रसादजी नवीन काव्य-क्षेत्र में जरूर आ चुके थे और जिस गति से द्विवेदी-युग का साहित्य चल रहा था उस हिसाब से उनका साहित्य अपेक्षाकृत नवीन लगता था। इस प्रकार जब वे नवप्रसिद्ध हो चुके थे तब पन्त और निराला अप्रकाश्य रूप से निजी काव्य-रुचि का विकास कर रहे थे। सन् '२० तक, जब कि ये अपने विकास में लगे हुए थे, द्विवेदी-युग का प्राधान्य था। सन् '२० के बाद से ये कवि प्रकाशमान हुए। सन् '२४ तक इनकी काव्य-कृतियां प्रकाशित

हुई कि द्विवेदी-युग के बाद छायावाद-युग आ गया। सन् '२४ से नई साहित्यिक पीढ़ी की भाव-जिज्ञासा जगी तब प्रसाद-जी को भी अपने कला-विस्तार के लिए उपयुक्त वातावरण मिला। इसी समय से उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियां लिखीं। इस प्रकार नवीन काव्य-कला का (साथ ही सन् '२० की राष्ट्रीय जाग्रति में गद्य-साहित्य का भी) उत्थान-काल सन् '२४ में ही सामने आता है। द्विवेदी-युग में नवीन-साहित्य की पृथक्-पृथक् साधना करने वाले कलाकारों का यह संगम-काल है। 'पन्त' और 'निराला' ने काव्य-प्रहार को 'पूर' दे दिया। इसी समय से दो और नये कवियों का भी उदय होता है—सर्वश्री महादेवी वर्मा और रामकुमार वर्मा। इनके बाद, मुख्यतः पन्त और महादेवी की काव्य-प्रेरणा से अन्य अनेक छोटे कवियों का दर्शन भी हिन्दी-संसार को मिला। कुछ नवयुवक कवि माखनलाल जी के भी प्रतीक बने रहे। निराला का काव्य-प्रभाव अपनी प्रतिभा की जटिलता में सुलभ नहीं हो सका। पंत और निराला की प्रारम्भिक काव्य-प्रेरणा से पहले जो नये-नये कवि आये थे उनका कलाबोध अपरिपक्व था, उनमें परिष्कृति और आत्म-परिणति नहीं थी, वे साहित्य में चल भी नहीं सके। किन्तु सन् '२७ के बाद पंत और महादेवी के सम्यक् प्रभाव से जो नवयुवक कवि आये वे स्वयं अपनी-अपनी आंखों से देखे हुए संसार का व्यक्तित्व लेकर आये। पंत और महादेवी से

कलाबोध पाकर उसमें अपनी-अपनी दुनिया का संगीत दे दिया। महिला-संसार से भी कुछ अच्छी कवयित्रियां आईं।

निदान, छायावाद में भारतेन्दु-युग की परिणति हैं प्रसादजी; द्विवेदी युग की परिणति हैं माखनलाल, पंत, निराला, महादेवी, रामकुमार इत्यादि। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के मध्यवर्त्ती हैं श्रीधर पाठक तथा द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के मध्यवर्त्ती हैं मैथिलीशरण गुप्त। पाठकजी की नवीन काव्य-प्रेरणा उच्च कोटि की प्राचीन अंग्रेजी कविता है; गुप्तजी की नवीन काव्य-प्रेरणा उच्च कोटि की बंगला कविता। हिन्दी की सीमा में दोनों ही आधुनिक हैं। एक में ब्रजभाषा की वृद्ध आधुनिकता है, दूसरे में खड़ी बोली की शिशु आधुनिकता। प्रसाद ने वृद्ध आधुनिकता को यौवन दिया, माखनलाल, निराला, पत, महादेवी, रामकुमार इत्यादि ने शिशु आधुनिकता को।

इन विविध कवियों ने अपनी-अपनी विदग्धता के अनुसार अपने विकास में भाषा के विभिन्न प्रभाव भी ग्रहण किये—किसी में उर्दू का प्रभाव अधिक है, किसी में बंगला का, किसी में संस्कृत का, किसी में अंग्रेजी का अथवा किसी में अंग्रेजी और संस्कृत का, किसी में अंग्रेजी, संस्कृत और बंगला का। इन विभिन्न प्रभावों ने इन कवियों के कवित्व को विभिन्न व्यक्तित्व दे दिया है।

[७]

पाठकजी के बड़े होते हुए भी जिस प्रकार खड़ी बोली की कविता के प्रतिनिधि-कवि गुप्तजी हैं, उसी प्रकार प्रसादजी के

बड़े होते हुए भी छायावाद के प्रतिनिधि-कवि पन्त जी हैं। प्रतिनिधित्व का आधार प्राञ्जलता है। गुप्तजी ने खड़ी बोली को परुष प्राञ्जलता दी, पन्त ने छायावाद को सुकुमार प्राञ्जलता, जिसका एक नन्हा-सा ठेठ बीज श्री शिवाधार पाण्डेय की कविताओं में है। परुष-प्राञ्जलता को द्विवेदी-युग में अन्तःस्पन्दन दिया प्रसाद ने, सुकुमार प्राञ्जलता को अन्तःस्पन्दन मिला महादेवी से। ये अन्तःस्पन्दन जीवन की अन्तरंग वेदना के हैं। अपने अपने स्थान पर प्रसाद और महादेवी ने जीवन की स्नेह-तरल वर्त्तिका को हृदय की 'लौ' दी है। वर्तमान छायावाद की कविता में वेदना का आदिरूप है प्रसाद की कविता में, विकसित रूप है महादेवी की कविता में। प्रसाद की काव्य-वेदना में मध्ययुग की एषणाओं के विफल ऐश्वर्य का उद्वेग है; महादेवी की काव्य-वेदना में युगों की रुद्धकण्ठ नारी की विगलित गरिमा। इसीलिए महादेवी की वेदनाएं प्रसाद की वेदना से उज्ज्वल हैं। निःसन्देह छायावाद में महादेवी मीरा के अभाव की पूर्ति हैं।

हमारे साहित्य में दो दशाब्दी (सन् '२० तक) द्विवेदी-युग के काव्य का प्राधान्य रहा, और सन् '४० तक (दो दशाब्दी) छायावाद की कविता का। इसके बाद ? कविता समाजवाद की ओर जा रही है। यह खड़ी बोली के काव्य-साहित्य के तृतीय उत्थान का आरम्भ है।

: ६ :

रहस्यवाद

(श्री सद्गुरुशरण अवस्थी)

हिन्दी-संसार में रहस्यवाद के सम्बन्ध में विचित्र-विचित्र धारणाएं व्यक्त की जा रही हैं। ऐसे-ऐसे कवियों को भी रहस्य-वादी कवियों की कोटि में धकेला जा रहा है, जो रहस्यवाद से कोसों दूर हैं। वास्तव में भाव-गम्भीरता, भाषा-क्लिष्टत्व तथा विचार-जटिलता के कारण अभिव्यक्ति में जो दुरूहता आ जाती है, वह रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी-रहस्यवाद का वर्तमान स्वरूप पश्चिमीय प्रतिकृति है। अंग्रेजीके प्रसिद्ध कोष में रहस्यवादी उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसे ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण में विश्वास हो। कभी-कभी अध्यात्म-सम्बन्धी विचित्र धारणा के उपहास के लिए और कभी-कभी ईश्वर और संसार सम्बन्धी असाधारण विवेचना का मखौल उड़ाने के लिए भी रहस्यवाद शब्द का प्रयोग किया जाता है।

ईश्वर और संसार का सम्बन्ध, संसार की क्रियाशीलता का रहस्य, उसकी उत्पत्ति और लय का इतिहास सारे संसार को आदिकाल से मुग्ध किये है। इस मुग्धता में विस्मय है, विस्मय

में उद्वेगाग्नि है। इसीलिए चित्त क्षुब्ध और अशांत रहता है। क्षोभ और अशांति में सुख का ह्रास होता है। अतएव सुखापेक्षी नर-समाज का चिंतनशील समुदाय इस गुत्थी को सुलझाने के लिए अपनी सारी शक्ति अनन्तकाल से व्यय कर रहा है। ससीम ज्ञान असीम ज्ञान की खोज का अभ्यास अनन्तकाल से कर रहा है; परन्तु उसमें शान्ति नहीं मिली। अतएव असीम हृदय के अन्वेषण के लिए ससीम हृदय उत्कण्ठा से निकला। यही रहस्यवाद का मूल उद्गम है। चिंतन-जगत् में जो ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद है, भावना-जगत् में वही रहस्यवाद कहलाता है।

भारतीय ग्रन्थों में रहस्यवाद की सुन्दर व्याख्या गीता के अधोलिखित श्लोक में मिलती है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावगम्यं समीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

परन्तु काव्यगत रहस्यवाद का ज्ञान से सम्बन्ध न होकर हृदय से है। मानसिक विकास द्वारा ज्ञान से ऐक्य अनुभव करना दूसरी बात है, और भावातिरेक द्वारा हृदय से भावात्मक ऐक्य स्थापित करना दूसरी बात। काव्य-स्वीकृत रहस्यवाद का सम्बन्ध दूसरे प्रकार से है, पहले प्रकार से नहीं। यद्यपि अंततः दोनों का आशय एक ही है परन्तु साहित्य में दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं। एक को दर्शन के और दूसरे को काव्य के अन्तर्गत रखा गया है।

रहस्यवाद वास्तव में कोई 'वाद' नहीं है। यह एक प्रकार की मानसिक स्थिति है। भिन्न-भिन्न रहस्यवादियों ने समूचे तथ्य का कोई-न-कोई अंग-निरूपण करके सत्य की अभिव्यक्ति में कुछ-न-कुछ नई बात कही है। उस महान् अखण्ड शक्ति के आलोक का आभास भक्त-जनों को पृथक्-पृथक् कोण से मिला है।

सुनि हस्ती कर नॉव, अँधरन टोवा धाय कै।
जेहि टोवा तेहि ठाँव, मुहमद सो तैसे कहा॥

रहस्यवादियों की अपनी मनोवृत्तियों ने उसका रूप संवारा है। यही कारण है कि पहुंचे हुए सन्तों के अनुभव एक दूसरे से भिन्न और कहीं-कहीं पर परस्पर-विरोधी दिखाई देते हैं। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ को दैवी अभिव्यक्ति का साक्षात्कार प्रकृति के सान्निध्य से प्राप्त हुआ था, और इसीलिए वह प्रकृति का उपासक था, परन्तु वही प्रकृति का स्थूल स्वरूप दूसरे रहस्यवादी कवि ब्लेक के लिए अखण्ड सत्ता के अवगत करने में विरोध उपस्थित करता था।

वास्तव में रहस्यवादी मानता है कि दैवी स्फूर्ति का कोई-न-कोई स्फुलिंग जीव के निर्माण में निहित है। उसी स्फुलिंग द्वारा—उसी दैवांश द्वारा—वह उस अखण्ड सत्ता की अनुभूति कर सकता है। रहस्यवादी का यह विश्वास है कि जिस प्रकार बुद्धि द्वारा मनुष्य भौतिक पदार्थों का निरूपण करता है उसी प्रकार अध्यात्म भावना द्वारा मनुष्य रहस्यमय अखण्ड सत्ता का अनुभव कर सकता है। परन्तु बुद्धि और भावना के क्षेत्र

भिन्न-भिन्न हैं। रहस्यवादी उसे मूर्ख समझता है, जो अध्यात्म-निरूपण में बुद्धि का प्रयोग करता है।

वह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि विचार।
बुद्धि छोड़ करनी करो; तो पाओ कछु सार॥

'कबीर'

रहस्यवादी जीव के विभिन्न चित्रों और जन्मांतर के विभिन्न संस्करणों के समूचे संकलन को एक साथ तारतम्य में देखता है। इसीलिए उसे जन्मांतर में विश्वास करना पड़ता है। आत्मा की नित्यता उसके रहस्यमय भाव-प्रासाद की नींव है। "न जायते म्रियते वा कदाचित्" अथवा "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" रहस्य-वादी के अद्वैतवाद की पुष्टि ही करते हैं। इस प्रकार के जन्मांतर में विश्वास किसी जाति विशेष के रहस्यवादियों तक ही सीमित नहीं है, जन्मांतर सिद्धांत के घोर विरोधी ईसाइयों में भी रहस्य-वादी कवि रहते हैं। जन्म-जन्मांतरवाद के कट्टर विरोधी मुसल-मान धर्म के पोषक कविवर मलिक मुहम्मद जायसी ने भी सूफी रहस्यवादी होने के कारण जन्मांतरवाद के चित्र खींचे हैं। 'पद्मावत' का 'सुआ' पूर्व-जन्म का ब्राह्मण था। कबीर ने तो खुल्लम-खुल्ला जन्मांतर माना है। इसी प्रकार सूफ़ी कवि जमालुद्दीन रूमी, हाफ़िज़ जामी हज्जाम इत्यादि मुसलमानों में भी आत्मा की पुनर्भावना के चित्र मिलेंगे। भारतवर्ष के सन्त कवि तो जन्मांतर के विश्वास के साथ-साथ विकासवाद को भी कहीं-कहीं स्वीकार करते दिखाई देते हैं :—

जन्म एक गुरु-भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्ति-पद, चौथे में निर्वान॥

परन्तु यह सार्वभौमिक सिद्धांत नहीं है कि प्रत्येक रहस्यवादी जन्मांतर को माने ही। अंग्रेजी साहित्य में इसके अपवाद उपस्थित हैं।

धर्म-प्रचारक, विज्ञान-वेत्ता, तार्किक और दार्शनिक तथा रहस्यवादी में बड़ा भारी अन्तर है। विज्ञान-वेत्ता की भांति रहस्यवादी रहस्योद्घाटन के लिए बुद्धि से काम न लेकर अपनी निजी भावना और आंतरिक प्रेरणा का प्रयोग करता है। दर्शनकार नवीन शोध को सीधे सामने लेकर अभिव्यक्त करता है। रहस्यवादी उसका परोक्ष-निदर्शन करता है। वह अनुभव करता है कि उसने अखंड ज्योति की लपक देखी। उसने अनहद शब्द सुना है। उसने अमृत-कुण्ड के छींटों से स्नान किया है।

भरत अमिय-रस झरत ताल जहँ, शब्द उठे असमानी हो।
सरिता उमड़ि सिंधु कहँ सोकै, नहिं कछु जात बखानी हो॥

भाषा भावों के विकास से हमेशा पीछे रहती है। भाव की उत्पत्ति के बाद तद्रूप भाषा गढ़ी जाती है। भाषा चाहे कितनी ही विकसित क्यों न हो, भावों की यथेष्ठ व्यंजना सम्भव नहीं, इसीलिए रहस्यवाद की कविताओं में प्रतीकों का प्रयोग अनिवार्य रूप में पाया जाता है। रहस्यवादियों का इन प्रतीकों के बिना काम ही नहीं चल सकता। रहस्योद्घाटन की अभिव्यक्ति कितनी कठिन है, इसका अनुमान केवल एक ही बात से हो

सकता है, लगभग सभी सन्त कवियों ने उस अखंड ज्योति के साक्षात्कार से प्राप्त सुख की अभिव्यक्ति में गूंगे के खाए हुए गुड़ की उपमा दी है। कारण यह है कि सभी कवियों की व्यंजना की कठिनता एक-सी है। प्रतीक प्रयोग की भावना के अन्तर्गत संसार के ऐक्य की भावना निहित है। इसीलिए रहस्यवादी उसे अपनाता है। यह भी विश्वास करता है कि सब पदार्थों में तिरोहित साम्य है। मानवी प्रेम में दैवी प्रेम का अध्याहार देखता है। इसीलिए संकेत द्वारा उसमें दैवी प्रेम का आरोप करता है। प्रकृति में गिरती हुई पंक्तियों को देखकर मानव-समाज के ध्वंस का रहस्य सामने आ जाता है। हिलते हुए वृक्ष से प्रकंपित वृद्ध शरीर का चित्र उपस्थित हो जाता है।

बाढ़ी आवत देखि करि, तरुवर डोलन लाग।
हमें कटे की कछु नहीं, पंखेरू घर भाग॥—(कबीर)

प्रतीक-प्रयोग से अभिव्यक्ति में शक्ति आ जाती है। दैनिक जीवन में दाम्पत्य-प्रेम अत्यन्त तीव्र और व्यापक है। समूचे जीवन-क्षेत्र में उसका प्रभाव अद्वितीय है। इसीलिए कबीर, जायसी, मीरा, दादू, दरिया इत्यादि सतों में उसकी भरमार है। वास्तव में दाम्पत्य-प्रेम के ही विशद मनोविकार द्वारा किसी अंश में रहस्य भावमय अखंड स्वरूप के दोनों पक्षों—संयोग और विप्रलंभ—की कुछ-न-कुछ अभिव्यञ्जना हो सकती है, अन्यथा असंभव है। गौने जाना, सिलसिली गैल में चलना, विरह में तड़पना सब प्रतीक ही हैं।

रहस्यवाद तथ्य के आलोक का मानसिक प्रतिवर्तन है। कुछ ऐसे रहस्यवादी हैं, जो सारे निगूढ़ रहस्यों की क्रमशील निबंधना का साक्षात्कार करते और उसे ज्यों-की-त्यों व्यक्त करते हैं। कबीर को ऐसा ही रहस्यवादी कहना चाहिए। इस साक्षात्कार की उपलब्धि की तीन अवस्थाएं हैं—पूर्वतद्रूप, तद्रूप तथा प्रागतद्रूप। तद्रूप होने के प्रयास की आदिम अवस्था से लेकर तद्रूप होने तक की अवस्था को पूर्व तद्रूप अवस्था कहते हैं। तन्मय हो जाने की अवस्था को तद्रूप अवस्था कहते हैं। तथा तन्मय होने के परे की अवस्था को प्रागतद्रूप अवस्था कहते हैं। हिन्दी में कबीर के रहस्यवाद में तीनों में परिस्थितियां मिलती हैं।

नाटक में रहस्यवाद की उद्भावना संसार में कहीं नहीं हुई। शेक्सपियर आदि नाटककार रहस्यवादी नहीं हैं। रहस्यमयी भावनाएं दर्शकों के लिए सुबोध नहीं कही जा सकतीं। शेक्सपियर की कृतियों में अध्यात्मवाद की अभिव्यक्ति अवश्य है। अध्यात्मवादी और रहस्यवादी में थोड़ा भेद है। अध्यात्मवादी व्यक्त क्रिया-कलाप और गल्पात्मक स्वरूप विधान के कारण ही खोज में चिंतित रहता है। परन्तु रहस्यवादी ऐसा अनुभव करता है कि वह प्रत्येक तथ्य के अन्तिम निष्कर्ष को जानता है। इतिहास की भांति युग के साथ-साथ किसी क्रम से रहस्यवाद का विकास नहीं हुआ। किसी तार्किक क्रम से कटहरे में रहस्यवाद की किसी स्थिति को बन्द करना भी

कठिन है। हां, देश-काल की परिस्थितियों द्वारा स्वरूप में कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया है। हिन्दू सिद्धांतानुकूल प्रकृति का आवरण आत्मा को परोक्ष सत्ता के निरूपण में विघ्न उपस्थित करता है और वह उसके परित्याग की भावना को अत्यन्त तीव्रता के साथ व्यक्त करता है। सूफी इस प्रतिरोध को नहीं मानता। सूफी-भावना से प्रेरित होकर कबीर ने लिखा है :—

मूये पीछे मत मिलो, कहै कबीरा राम।
सोना माटी मिल गया, फिर पारस केहि काम ॥

कबीर मिट्टी को—इस शरीर को—प्रतिबन्ध न मानकर इसे भी सोना बनाना चाहते हैं। इस महान् सत्ता के सम्पर्क से जड़ प्रकृति भी चैतन्यमयी हो सकती है। परन्तु उसी समय तक, जब तक उसमे स्वयं उस महान् शक्ति का स्फुलिंग उपस्थित है। सारा विश्व एक बृहत् क्रिया-कलाप का गत्यात्मक पिंड है। उसी में अखड सत्ता का हृदय—जिसे ईश्वर कह सकते हैं—और वही सारे स्वरूपों और नाम-रूपों की जाति, उद्गम और ध्वंस का केन्द्र है। इसकी सम्यक् जानकारी अभ्यासी क्रमशः ही उपलब्ध कर सकता है। उसकी उन्नति उतनी ही गति से होगी, जितनी वेगवती उसकी उपास्य-भावना है, और जितना अधिक उसका हृदय परिष्कृत है। उपासना का अभिप्राय स्थूल देववाद की भावना से प्रेरित होकर पूजा इत्यादि करने का नहीं है।

भारतवर्ष में अद्वैतवाद केवल चिंतन-जगत् तक ही रहा। इसकी कुछ झलक उपनिषदों में अवश्य मिलती है, वैसे सारा

संस्कृत-काव्य-साहित्य रहस्यवाद से दूर है। यह अवश्य है कि देश की सुख-समृद्धि से मनुष्य बहिर्मुख अवश्य रहता है, परन्तु जिस भारतवर्ष में बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों ने अपनी अंतर्दृष्टि के पैनेपन से संसार को चकित कर रखा है, वह रहस्यवाद की अभि-व्यक्ति से बचा रहे; यह विचारणीय अवश्य है। यहां का सारा संस्कृत काव्य रहस्य से अधिकतर बचा रहा है, भारतीय धर्म में मूर्ति-पूजा की स्थापना करके भावना के लिए एक नई उर्वरा भूमि तैयार की गई। सारी भावना प्रतिमा में सम्मिलित कर दी गई। सारे संस्कृत-कवियों ने, नितान्त अर्वाचीन हिंदी-कवियों को छोड़कर, सारे हिंदी-कवियों ने अपनी भावना के विस्तार के लिए भगवान् के साकार स्वरूप को ही आलम्बन बनाया। इन अवतारी स्वरूपों पर जनता का हृदय भी टिका। चित्रों की सुन्दर-से-सुन्दर व्यञ्जना दिखाई देने लगी। हिंदी कवियों में कबीर, जायसी और कहीं-कहीं सूर में—जो रहस्यवाद की झलक यत्र-तत्र दिखाई देती है, वह सूफ़ी मत के प्रभाव के कारण। सूफ़ियों के लिए तो यह प्रसिद्ध ही है कि ये "पर्दे बुतां" में "नूरे खुदा" देखते हैं, और बुतों के सामने सिजदा करना उतना ही पाक समझते हैं जितना कि खुदा के सामने। इसीलिए कट्टर सुन्नियों ने सूफ़ियों को क़ाफ़िरों के दल में खदेड़ दिया।

व्यक्त-स्वरूप पर अधिक अनुरक्ति ने सूफ़ियों में अन्तर्दृष्टि के अभ्यास को मंद कर दिया। वे अधिकतर वाह्य सौन्दर्य तक ही सीमित रहे। किसी-किसी परिस्थिति में उनके मनोभाव

में विकार उत्पन्न हो गया, और सौन्दर्य-बाहुल्य का प्रभाव मनोमुग्धकारी न रहकर स्थूल इन्द्रियों में प्रकम्पन उत्पन्न करने लगा। सौंदर्य हृदय में गढ़ा तो, परन्तु विस्मय परिपाक स्वरूप गत्यात्मक महान् अक्षय परोक्ष सौंदर्य आलोक की ओर न ले जाकर मांस-पिंड तक ही सीमित रह गया। इसी से लोग बिगड़े और बुरी तरह बिगड़े। अमूर्त गुण दया, दाक्षिण्य, करुणा आदि के विश्व-रूप सौंदर्य तक उनकी पहुंच न हो सकी। मूर्त पदार्थों तक ही उनका मन टिका। करुणा-सम्पन्न व्यक्ति पर मुग्ध होकर सूफी रहस्य-भावना में लीन हो सकते थे, परन्तु करुणा के अमूर्त गुण पर नहीं। हिंदी-साहित्य के वर्तमान रहस्यवादी कवियों ने किसी अंश तक इस कमी को पूरा किया है। जयशंकर प्रसाद के 'अजातशत्रु, नामक नाटक में करुणा की व्याख्या में कवि किस प्रकार रहस्यवादमय हो जाता है, उसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

गोधूली के राग-पटल में स्नेहांचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन में हास-विलास दिखाती है॥

रहस्यवाद का सूफ़ीवाद पर जो बुरा प्रभाव पड़ा, उसी से प्रेरित होकर सूफी लोग अपने कर्त्तव्य की इतिश्री इसी में समझने लगे कि वे सुन्दर स्त्री और सुन्दर बालक की ओर आंखें फाड़कर देखें। इसी से वे अधिक विलास में पड़ गये, और भारतीय प्रवाह पहले मूर्ति-पूजा की ओर झुका, और अब गुणों के सूक्ष्म सौंदर्य के आलोक में सच्चे रहस्यवाद का चित्र खड़ा कर रहा है।

स्पर्जन नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने रहस्यवाद पर एक ग्रन्थ लिखा है, जिसमें उसने रहस्यवादी कवियों को उनकी चिंतन-प्रणाली के अनुसार कुछ कोटियों में विभाजित किया है उनकी कुछ चर्चा नीचे दी जाती है—

(१) प्रेम और सौंदर्य-सम्बन्धी रहस्यवादी।

(२) दार्शनिक रहस्यवादी।

(३) धार्मिक और उपासक रहस्यवादी।

(४) प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवादी।

पहली कोटि में अंग्रेजी का प्रसिद्ध कवि शैली आता है। हिन्दी के प्राचीन कवियों में जायसी, कबीर और नवीन कवियों में 'भारतीय आत्मा' और 'नवीन' इस कोटि में आ सकते हैं।

दूसरी कोटि में अंग्रेजी कवि ब्लैक और कहीं-कहीं ब्राउनिंग हैं। हिंदी में जयशंकरप्रसाद जी इस कोटि में आ सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी का 'केशव, कहि न जात का कहिए' विनय-पत्रिका का प्रसिद्ध छंद इसी कोटि में आता है।

तीसरी कोटि में मीरा, निर्गुणिये कवि दादू इत्यादि और कहीं-कहीं प्रेमवादी जायसी तथा कुतवन आते हैं। तुलसीदास रहस्यवादी नहीं हैं, परन्तु उनका 'सियाराम मय सब जग जानी' पद इसी कोटि में ही आता है।

चौथी कोटि में अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ आते हैं। हिंदी के वर्तमान कवियों में सुमित्रानन्दन पन्त और रामनरेश त्रिपाठी के कुछ पद इस कोटि में आ जाते हैं।

फ़ारस और इङ्गलैंड के रहस्यवाद के इतिहास से एक बात तो स्पष्ट ही है कि जनसत्तात्मक विचारों की क्रांति से बहुधा रहस्यमयी भावना का प्रादुर्भाव होता है। ह्वीट्स साहब आयर्लैंड निवासी हैं। कबीर समाज के नीच जुलाहे थे। कभी-कभी बाह्य परिस्थितियों की प्रतिकूलता से भी अभ्यंतर-मुख होकर लोग रहस्यवादी हो जाते हैं।

यह बात न भूलनी चाहिए कि किसी विशेष 'वाद' में पड़कर कविता अपना महत्त्व खो बैठती है। रहस्यमयी भावना बड़ी सुन्दर वस्तु है। कविता में उसकी निबंधना कविता के स्वरूप को अत्यत आकर्षक बना देती है। परन्तु जब वह कविता की शक्ति किसी वाद-विशेष के निरूपण में लगाई जाती है, चाहे वह अद्वैतवाद की क्यों न हो, तो वह कविता न रहकर केवल तुकबंदी ही रह जाती है। कबीर ने ही जहां कहीं रहस्यमयी भावना के बिना ही रहस्यवाद के निरूपण के लिए कविता के पद खड़े किये हैं, वहां के छन्द बिलकुल नीरस हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर-भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तत कथा गियानी॥

वर्तमान युग की कविता में यद्यपि कबीर की भांति केवल 'वाद' के निरूपण की कविता में नीरस पद्य सम्भवतः न मिलेंगे परन्तु ऊटपटांग चित्रों की भरमार है। इनके बीच में पड़कर सच्चे चित्रों और मार्मिक कवियों को भी लोग संदेह से देखते

हैं। 'भारतीय आत्मा' तथा बालकृष्ण शर्मा कहीं पर रहस्यवाद के अच्छे-अच्छे चित्र उपस्थित करते हैं। प्रसादजी एक दार्शनिक वृत्ति के कवि हैं। वह प्राय: रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं, परन्तु उनमें सर्वत्र रहस्यवाद नहीं है। हां, उनकी चिंतन-शैली दुरूह अवश्य है, और उनके चित्र संश्लिष्ट हैं। उपमाएं उनकी अनूठी और भाव-व्यंजना नितांत नवीन है। पं० सुमित्रानन्दनजी पन्त अधिकतर विस्मयवाद के रूपक सामने रखते हैं। रहस्यवादी अधिक न होकर वह 'विस्मयवादी' कहे जा सकते हैं। अन्योक्ति का अधिक सहारा लेने के कारण उनके चित्र दुरूह हो गए हैं। इसीलिए तो लोगों ने उन्हें रहस्यवादी कहना आरम्भ कर दिया। 'निराला' जी की पंक्तियों में जहां-कहीं रहस्यवाद लाने का प्रयास किया गया है, वहां तुकवन्दियों का स्वरूप दिखाई देता है। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वर्तमान हिन्दी के कवियों में रहस्यवादी बहुत कम हैं। समासोक्ति अथवा अन्योक्ति में रहस्यवाद देखना भ्रम है। दुरूहवाद और रहस्यवाद दो भिन्न-भिन्न बातें हैं।

: ७ :

प्रगतिवाद की रूपरेखा

(प्रो० शिवबालकराय)

वादों का विवाद हमें दर्शन-क्षेत्र में विशेष रूप से सुनाई पड़ता है—अद्वैतवाद, विवर्तवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और न जाने इसी प्रकार के कितने वाद हुआ करते हैं! दर्शन और साहित्य का पारस्परिक सम्बन्ध होने के कारण इसकी आवाज़ इन दिनों साहित्य-क्षेत्र में भी काफी गूंजने लगी है। छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद के विवादी स्वरों की झंकार गूंज ही रही थी कि एक और नया वाद 'ठन्' 'ठन्ठन' करता हुआ खड़ा हो गया है। यह नवीन वाद हिन्दी में प्रगतिवाद के नाम से प्रचलित हो गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से सन् १६३५ ई० के नवम्बर महीने में लंदन में इस प्रगतिवाद का जन्म हुआ। वहां विश्व के क्रांतिकारी लेखकों की एक बैठक हुई और विश्व के 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' की स्थापना हुई। इसी वर्ष इसका प्रथम अधिवेशन पेरिस में प्रसिद्ध उपन्यासकार ई० फॉरेस्टर के सभापतित्व में हुआ। भारतवर्ष में इसका सर्वप्रथम सम्मेलन प्रेमचन्द के सभा-

पतित्व में सन् १९३६ ई० में लखनऊ में हुआ। इस प्रकार, इस प्रगतिशील शिशु को अभी मुश्किल से दस साल हुए हैं। यों विचार किया जाय तो प्रगतिवाद मार्क्सवाद का सहोदर भाई है। संसार में कार्लमार्क्स ही सर्वप्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने समाज के पूंजीवाद के प्रति, बुद्धि को अपील करनेवाली वैज्ञानिक आवाज उठाई। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति ने सामंतशाही की चमक को क्षीण बना दिया। विज्ञान के आविष्कारों ने यातायात के साधनों को अत्यन्त सुगम बना दिया। वाणिज्य-व्यवसाय का चतुर्दिक् प्रसार हुआ। 'सोइ सयान जो परधन हारी' गोस्वामीजी की इस परिभाषा को अंग्रेजों ने सार्थक बना दिया। पूंजीशाही गरीब जन-समुदाय को जोंक के समान चूसती रहती है, खून सभी गायब, लेकिन घाव का नाम नहीं। सारी दुनिया की जनता आज पूंजीवाद की ही चक्की में पीसी जा रही है। कार्लमार्क्स ने पूंजीवाद के इस वीभत्स-रूप की ओर जन-समुदाय का ध्यान आकर्षित किया। लेनिन जैसे निर्भीक हृदय माली ने सोवियत भूमि में लाल खून से मार्क्सवाद के पौधे को भली-भांति सींचा। रूस की लाल क्रांति की लपटें और देशों में भी फैलती जा रही हैं। पूजीवाद का मल समाजवाद की अग्नि में ही भस्मसात् हो सकता है। प्रत्येक देश की राजनीति में समाजवाद अपना विशिष्ट स्थान बनाता जा रहा है। राजनीति-क्षेत्र का समाजवाद साहित्य-क्षेत्र में प्रगतिवाद के रूप में अवतरित हुआ है।

प्रगतिवाद के पदार्पण के पूर्व हिन्दी साहित्य के मालती-कुंज में, चन्द्रिका-अंधेरी की मिश्रित झिलमिल छाया लिए छायावाद अपने सुख-सपने देख रहा था। जिस प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता की प्रतिक्रिया छायावाद के रूप में हुई, उसी प्रकार छायावाद की अत्यधिक कल्पनाशीलता, भावुकता और आदर्शवादिता की प्रतिक्रिया प्रगतिवाद के रूप में हुई। समाज में या समाज को प्रतिबिंवित करने वाले साहित्य में जब किसी भाव या विचार-विशेष की प्रधानता हो जाती है और वह प्रधानता अपनी सीमा का अतिक्रमण करना चाहती है तो उसकी रोक-थाम के लिए दूसरी भाव-धारा का प्रस्फुटन होता है। छाया-युग में भाव और भाषा दोनों के क्षेत्र में अतिशयता का समावेश हो रहा था। कल्पना के सुनील गगन में इतनी ऊंची उड़ानें भरी गईं कि भाव की भूरी धरती का ध्यान ही कवियों को नहीं रहा। पंत की 'छाया', 'नक्षत्र', 'बादल' आदि कविताओं में कल्पना की उन्मुक्त क्रीड़ा प्रदर्शित की गई है। मानव-हृदय में प्रेम एक अत्यन्त सुकुमार और सुकोमल भाव है, और इस भाव की प्रमुखता से भी किसी को इन्कार नहीं, परन्तु केवल एक प्रेम का, चाहे वह भौतिक हो या आध्यात्मिक, एक-मात्र चित्रण करना कवियों का अभीष्ट नहीं होना चाहिए था। छाया-युग में प्रेम, विरह, करुणा, उल्लास, वेदना आदि भावों का विस्तार के साथ चित्रण हुआ है। छाया-युग के अधिकांश गीतों में विहग-बालिका का कंठ-स्वर सुनाई पड़ता है। समाज के प्राणियों का

सामूहिक स्वर नहीं। छाया-युग की कविता में कवि की वैयक्तिक भावना विशेष बल पकड़ रही थी, स्वांतःसुखाय की ओर उनका विशेष ध्यान थ। पहुंचे हुए कवि का स्वांतःसुखाय भी 'सर्वान्तःसुखाय' के रूप में परिणत हो जाता है। चिरंतन साधना के बल से कवि अपने को इतना महान् और व्यापक बना लेता है कि उसके सुख-दुःख में संसार का सुख-दुःख समा जाता है। छाया-युग का स्वांतःसुखाय सर्वान्तःसुखाय में परिणत न हो सका।

भाषा की दृष्टि से भी छाया-युग के छन्दों की गूंज हमारी पर्ण-कुटीर की अपेक्षा व्रज प्रांतर और गिरि-गह्वर में अधिक सुनाई पड़ती थी। द्विवेदी-युग की ठेठ-शैली—कानों को फाड़ने-वाली खड़ी बोली—का खड़ापन तो दूर हो गया लेकिन पग-पग पर नवनीत की कोमलता की अनुभूति भी अरुचिकर ही प्रतीत होती है। ऐसी पंक्तियों की कमी नहीं कि जिनमें से यदि 'हैं', 'था', 'रहा' या ऐसे ही क्रिया-पद हटा दिये जायं तो वे शुद्ध संस्कृत-श्लोकों में परिवर्तित हो जायं। इसका कारण यह था कि हमारा काव्य लोक-पक्ष से दूर हटता जा रहा था, इसलिए उसमें लोक-भाषा का, 'देसिल बअना सब जन मिट्ठा' का समावेश न हो सका। इस कथन की पुष्टि के लिए निराला और महादेवी की कुछ पक्तियां उद्धृत की जाती हैं:—

अभरण भर वरण गान।

वन वन उपवन, उपवन, जागी छवि खुले प्राण।

वसन विमल तनु वल्कल, पृथु उर सुर पल्लव दल,
उज्ज्वल-दृग-कलिकल, पल निश्चल, कर रही ध्यान।
अमरण भर वरण गान।
मधुप-निकर, कलरव भर, गीति मुखर, प्रिय-प्रिय स्वर,
स्मर शर, हर केशर झर, मधु पूरित गन्ध ज्ञान।
अमरण भर वरण गान।
[गीतिका से]

प्रिय गया है लौट रात!
सजल धवल अलस चरण, मूक मंदिर मधुर करुण
चांदनी है अश्रु-स्नात।......
युग-युग जल मूक विकल, पुलकित अब स्नेह तरल
दीपक है स्वप्नसात्। [नीरजा से]

भाषा और भाव की इस गगनचारी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया अवश्यंभावी थी और प्रगतिवाद की काव्य-धारा में यह प्रतिक्रिया स्पष्टतया परिलक्षित हो रही है।

प्रगतिवाद का दर्शन

प्रत्येक साहित्य-सरिता के अन्तःप्रदेश में दर्शन की सूक्ष्म अन्तर्धारा प्रवाहित होती रहती है। यद्यपि साहित्य दर्शन का मुखापेक्षी नहीं; फिर भी वह अपने विकास की परमावस्था में स्वयं दर्शन हो जाता है और पहुंचे हुए दार्शनिक के हृदय में क्या कविता की गूंज नहीं सुनाई पड़ती? जिस साहित्य का दार्शनिक आधार जितना ही ठोस रहता है उसका भाव-मंदिर भी उतना ही स्थायी रहता है। हिंदी-साहित्य के स्वर्णयुग का

दार्शनिक आधार रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत और वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत है। कबीर और जायसी भी 'सोऽहं' और 'अनहल्लहक' के सूत्र पकड़े हुए थे। प्रगतिशील साहित्य का दार्शनिक आधार मार्क्सवाद है। मार्क्स का दार्शनिक सिद्धांत Dialectical Materialism यानी द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद के नाम से विख्यात है। मार्क्स के इस दर्शन का आधार हीगेल के दार्शनिक सिद्धांत हैं। हीगेल ने सृष्टि के मूल में तीन अवस्थाओं को माना है :—Thesis, Antithesis और Synthesis अर्थात् वाद, प्रतिवाद और युक्तवाद। प्रत्येक वाद में उसका विपरीत धर्म प्रतिवाद साथ ही लगा रहता है। वाद और प्रतिवाद के समन्वय से युक्तवाद की स्थापना होती है। भारतीय दर्शन के अनुसार यदि हम ब्रह्म को वाद मानें तो माया प्रतिवाद होगी और ब्रह्म और माया के समन्वय से जगत् युक्तवाद होगा। हीगेल ने सृष्टि के मूल में सत् और चित् दोनों की सत्ता मानी है। मार्क्स ने चेतन को हटा दिया और सत्, जड़ जगत् या मूल-प्रकृति (Matter) को ही मूल तत्त्व माना है। यह मूल-प्रकृति भारतीय दर्शन में प्रधान के नाम से पुकारी जाती है। मूल प्रकृति जब साम्यावस्था में रहती है तो परिस्थिति की अनुकूलता या प्रतिकूलता के कारण इसमें क्षोभ उत्पन्न होता है, और इसके रूप में परिवर्त्तन होता है। जल अपनी साम्यावस्था में है। सयोजक शक्ति की अनुकूलता के कारण इसमे क्षोभ उत्पन्न होता है और यह बर्फ में परिवर्त्तित

होने लगता है, उसी प्रकार वियोजक शक्ति के कारण यह भाप में परिणत हो जाता है। परिवर्त्तन की इस प्रक्रिया को The changing of quantity into quality कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में उसके विपरीत विनाशक धर्म के वर्तमान रहने के कारण उसके अन्दर एक द्वन्द्व चलता रहता है। मार्क्स के मतानुसार जड़ प्रकृति (Matter) में ही क्षोभ उत्पन्न होता है और फिर उससे स्वयं चेतना उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए मार्क्स का दर्शन द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद कहा जाता है। भारतीय दर्शनों का उद्देश्य ही संसार से छुटकारा पाकर निर्वाण या मोक्ष की प्राप्ति है। पाश्चात्य दर्शन सत्य की खोज में परेशान रहता है। जीवन और जगत् की भिन्न-भिन्न व्याख्या करना, उनके आभ्यन्तर सूत्र का आविष्कार करना अभी तक दर्शन-शास्त्रों का उद्देश्य रहा है लेकिन मार्क्सवाद के सामने 'दुनिया को जानना' नहीं, बल्कि दुनिया को बदल डालने की समस्या है। मार्क्स-दर्शन विश्व का पुनर्निर्माण चाहता है। संसार के विकास में सबसे बड़ा रोड़ा पूंजीवाद है। ससार के आर्थिक वैषम्य को दूर कर साम्यवाद को रूपान्तरित करना इसका उद्देश्य है। ईश्वर और धर्म की भावना, जो मनुष्य के लिए अफीम है, यदि प्रगति में बाधक सिद्ध हुई तो उसका भी मूलोच्छेद करना है। संसार से सर्वहारा वर्ग के शोषण को विदूरित कर वर्गहीन समाज का संस्थापन मार्क्सवाद का चरम उद्देश्य है।

प्रगतिवाद की विशेषताएं

प्रगतिवाद के अनुसार समाज की तरह साहित्य का कोई शाश्वत, चिरंतन, एकरस स्वरूप नहीं है। भाव या विचार-जगत् के पहले जड़-जगत् (Matter) वर्तमान था। निर्जीव पदार्थों में गतिशीलता उत्पन्न हुई और सजीव प्राणी उत्पन्न हुए। मानव क्रमिक विकास की परम्परा में इस रूप को प्राप्त कर सका है, और धीरे-धीरे ये ही शब्द भिन्न-भिन्न भावनाओं से परिपूर्ण हो गये। भाषा, भाव, भावनाभिव्यक्ति की कला सभी परिवर्तन-शील हैं। आधुनिक हिन्दी भाषा भी तो वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को पार करती हुई यहां तक पहुंच सकी है। फिर इस रूप में भी परिवर्तन अवश्यं-भावी है। जन्म-भूमि के प्रति भाव में भी क्रमिक विकास हुआ है। ग्राम से प्रांत, प्रांत से देश और आज अखिल विश्व को अपनी मातृ-भूमि मानने में मानवता का कल्याण है। साहित्य समाज का प्रतिविम्ब है—समाज की भावनाओं का, क्रिया-प्रतिक्रिया का चित्रण इसमें पाया जाता है। गरीब समाज के लिए सत्य, सौंदर्य, प्रेम, आनन्द का नये सिरे से मूल्यांकन होना चाहिए। "नरों में नराधिप मैं हूं" श्री कृष्ण के इस कथन की जांच होनी चाहिए। विज्ञान के कारण स्वर्ग, नरक, देवता आदि की सत्ता के प्रति हमारे विचार बदल रहे हैं। एक ओर किसानों, मजदूरों को चूसना और दूसरी ओर धर्मशाला

बनवाने में, सदावर्त्त देने में अब पुण्य नहीं माना जाना चाहिए।

सभ्य शिष्ट औ संस्कृत लगते, मन को केवल कुत्सित।
धर्म-नीति औ सदाचार का मूल्यांकन है जनहित॥

प्रगतिवाद की दृष्टि में काव्य नन्दन-कानन का कल्पित कल्पतरु नहीं है, बल्कि वह हमारी ही दुनियां का आम्रवृक्ष है, जो शिशिर और वसंत के स्पर्श से विषादित और आह्लादित हुआ करता है। साहित्य अमरावती में प्रवाहित होने वाली कोई पीयूष-धारा नहीं, बल्कि वह हमारे ही हिमालय से कल-कल स्वर करती हुई, हमारी ही धरती पर बहने वाली मंदाकिनी की शीतल-उष्णधारा है, जिसमें हमारे हृदय की आशाएं-अभिलाषाएं तरंगित होती रहती हैं। साहित्य स्वर्ग की सुर-सभा में निनादित होने वाली उर्वशी के तरल नूपुरों की मादक झंकार नहीं है, बल्कि वह हमारे ही प्राणों के पुलकित-वन में बजने वाली व्याकुल विपंची है जो सुख-दुख के तारों से झंकृत हुआ करती है। साहित्य इसी ठोस धरती की चीज है। साहित्य की यथार्थवादी, व्यावहारिक, व्याख्या होनी चाहिए, आदर्शवादी, अलौकिक परिभाषा नहीं।

साहित्य का आदर्शवादी दृष्टिकोण, धरती के क्रन्दन को अन-सुनी करके विहग-बालिका के साथ गीत गाता हुआ गगनचारी हो जाता है। दिन के संघर्ष से जी चुराकर रात में विचरने वाले कवि 'निशिचर' नहीं तो क्या हैं? हमें ऐसे साहित्य की आवश्य-

कता है जो हमें वास्तविक रूप से, सच्ची परिस्थिति से, परिचित कराए। अपनी दुर्दशा, गरीबी, पाखंड, यानी समाज के वीभत्स रूप को उघार कर हमारे सामने रखे। दुर्गन्ध, सड़ापन, बदबू जो कुछ हो समाज की आंखों के सामने स्पष्ट होना चाहिए। कोटि-कोटि नर-नारी जहां कीड़े की तरह जिन्दगी बिता देते हैं, वहां स्वर्ग के गान गाना अपने सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति उदासीन रहना है। जब हमारा घर-बाहर सभी जल रहा हो, उस अवसर पर नीरो के समान बीन बजाना हमारी पशुता का ही द्योतक है। प्रगतिवाद सामाजिक कुरूपता को बुर्के से ढकने के पक्ष में नहीं है—समाज का जैसा भी रूप क्यों न हो, उसे खोलकर दिखाना साहित्यिकों का कर्त्तव्य है। भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसा गाड़ी' समाज के पद-दलित, तिरस्कृत प्राणी का कैसा चित्र है :—

"चाँदी के टुकड़ों को लेने, प्रतिदिन पिसकर भूखों मर कर
भैंसा गाड़ी लदा हुआ जा रहा चला मानव जर्जर।"

इसी प्रकार एक भिखमंगे का चित्र देखिए—

चिथड़ों में ले दुर्गन्ध कड़ी
रोगों से उसकी देह सड़ी
उनके मुख से है छूट रही
कलुषित वचनों की एक झड़ी।

इस प्रकार यथार्थवाद हमारी आंखों की खुमारी दूरकर कुछ सोचने के लिए बाध्य करता है, जिससे समाज का काया-कल्प हो सकता है। आदर्शवाद हमारी आंखें आकाश की ओर लगा

देता है, जिससे खाई में गिरने का डर बराबर बना रहता है। स्वर्ग की ओर निहारने वाले कवियों से पंत का यह कथन है—

ताक रहे हो गगन !
देखो भू को, जीव-प्रसू को
हरित भरित पल्लवित मर्मरित
कुञ्जित गुञ्जित कुसुमित भू को।

प्रगतिवाद अपने अतीत की व्याख्या दूसरे ही प्रकार से करना चाहता है। हमारा वर्तमान तो अतीत का ही प्रतिफल है। हमारे वर्तमान जीवन में अतीत की नीलिमा, भविष्य की लालिमा की झांकी मिलती रहती है। इसलिए अतीत के एकांत निष्कासन से वर्तमान की व्याख्या नहीं हो सकती। भविष्य का मार्ग प्रशस्त करने के लिए हमें गत जीवन का, ऐतिहासिक तथ्यों का सिंहावलोकन करना ही पड़ेगा। लेकिन पूर्व गौरव, प्राचीन वैभव और वीरता पर गर्व करना अपना वक्त बर्बाद करना है। हमारा इतिहास सामंतशाही और पूंजीवादी सभ्यता का इतिहास है। एक सम्राट् ही अपने देश की सारी प्रजा पर निष्कंटक राज्य करता था। राजा के निर्वाचन में प्रजा का कोई हाथ नहीं। सारा इतिहास ही अर्थ-लोलुपता और साम्राज्य-लिप्सा की कहानी से भरा पड़ा है। अब नवीन इतिहास की रचना हमें करनी है। प्रगतिवादी संपूर्ण इतिहास की व्याख्या आर्थिक दृष्टिकोण से हमारे सामने प्रस्तुत करता है। धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य के मूल में इसी अर्थ का बड़ा भारी हाथ है।

प्रगतिवाद प्रत्येक घटना के मूल में भौतिक संघर्ष के पाने की चेष्टा करता है।

प्रगतिवाद का सुधारवाद में, हृदय-परिवर्तन में विश्वास नहीं। वह क्रांति का पुजारी है। समाज के आमूल परिवर्त्तन के लिए क्रांति की आवश्यकता है। सुधारवाद की कच्छप-चाल वाली गाड़ी से हमारा समाज आगे नहीं बढ़ सकता। सुधारवाद कुछ काल के लिए रोग को, घाव के मुंह को, बन्द कर सकता है, लेकिन इससे भीतर-ही-भीतर सड़न पैदा होती है, और सारा शरीर ही विषाक्त हो जाता है। क्रांति वह तेज नश्तर है जो ऑपरेशन द्वारा समाज के शरीर में नया प्राण फूंकना चाहती है। रूढ़ियां, अंध-विश्वास, पुरानी परंपराएं, सभी को भस्मसात् करना प्रगतिवादी साहित्य का उद्देश्य है। इसीलिए आधुनिक रचनाओं में महाप्रलय, विनाश, विस्फोट, तांडव, अग्निकांड की लपटें विशेष दिखाई दे रही हैं। गांधीवाद हृदय-परिवर्तन, सुधारवाद पर विश्वास करता है, इसीलिए प्रगतिवाद का गांधीवाद से विरोध है। पन्त 'युगांत' में जगत् के जीर्ण-पत्रों को द्रुत झर जाने के लिए कहता है, और क्रांति के अग्रदूत कोकिल से पावक-कण की प्रतीक्षा करता है :—

> गा कोकिल, बरसा पावक-कण।
> नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।
> पावक पग धर आवे नूतन।
> हो पल्लवित नवल मानवपन।

अंग्रेजी की रोमांटिक कविता की तरह छायावादी कविता में कवि के व्यक्तिगत सुख-दुःख, आशा-निराशा, विशाद-उल्लास का चित्रण है। छाया युग में जिस वेदना का प्रकांड प्रदर्शन होता रहा, उसमें समाज के आंसू नहीं थे, समाज की आह नहीं थी। पन्त की 'भावी पत्नी' के दृगों में सायं-प्रात: भले ही फूल रहे हों, उसकी करुण भौंहों में भले ही आकाश समाया हो, लेकिन जैनेन्द्र की 'पत्नी' कहानी-सी उसमें करुणा कहां है? सोम-रस या आसव से कविजी की प्यास भले ही बुझ सकती है; किन्तु समाज के शिशु को तो गोरस की आवश्यकता है। कवि अपनी वैयक्तिक भावना को समाज के राग-विराग के साथ तदाकार कर दे—इसी में साहित्य का कल्याण है। समाज से भिन्न व्यक्ति की कोई खास सत्ता नहीं रह जाती। समाज-शरीर का व्यक्ति एक अङ्ग-मात्र है। इसीलिए संपूर्ण समाज के संरक्षण में अहर्निश चिंतित होना कवि का कर्त्तव्य है। सामाजिक संघर्ष में हंसते हुए बलि हो जाना कवियों का कर्त्तव्य है। अपने नैराश्य से समाज में अवसाद का प्रसार करना कवि को उचित नहीं। पत्नी की मृत्यु पर निशा को निमंत्रण दे आना ठीक नहीं। समाज के अन्धकार को दूर करने के लिए कवि दीपक के समान जलता रहे—यही उसकी सार्थकता है। इस प्रकार प्रगतिवाद को जीवन के समष्टिवाद में विश्वास है, व्यष्टिवाद में नहीं।

प्रगतिवाद जब काव्यगत भावनाओं का नए सिरे से मूल्यांकन करना चाहता है, सत्य, सौंदर्य और प्रेम के नए मापदण्ड प्रस्तुत करना चाहता है, आदर्श राज की नई रूप-रेखा खींचना चाहता है, तो वह इन नूतन भावनाओं को अभिव्यजित करने के लिए नूतन भाषा-शैली की भी अपेक्षा करता है। भाव और भाषा में अभिन्न सम्बन्ध है। भाव के अनुकूल ही भाषा, गंभीर हलकी व्यंगात्मक, विनोदशील और ओजस्विनी हुआ करती है। स्पष्ट, यथार्थ एवं वास्तविक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा भी सरल और व्यावहारिक होनी चाहिए। उसमें हृदय-ग्राहिता, मर्म-स्पर्शिता रहनी चाहिए। वह विचारोत्तेजक हो, जो औरों को भी उसी प्रकार सोचने के लिए नहीं, बल्कि करने के लिए भी बाध्य करे। तुलसी की चौपाइयों में भक्ति की शीतल मंदाकिनी बहती रहती है। भूषण के कवित्त में वह ओज है जो तलवार को म्यान से खींच लेता है, हाथ आप-ही-आप मूछों पर ताव देने लगते हैं। छाया-युग की भाषा में भी वह शक्ति है जो हमारे सूक्ष्म-सुकुमार एव रङ्गीन भावों को कोमलता शीतलता के साथ अभिव्यक्त करती है। प्रगतिवाद के लिए तितली के समान रंगीन और कोमल भाषा-शैली की आवश्यकता नहीं। हमारी गरीबी और परवशता का चित्रण खरी-खोटी भाषा में ही हो। पन्त ने 'परिवर्तन' में समाज की दयनीय दशा का यह चित्र खींचा है—

आज शैशव का कोमल गात
जरा का पीला पात ....

शिशिर-सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल
प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाता अधरों को भूल।'

लेकिन शैली की अतिशय सुकुमारता के कारण हमारे हृदय में तदनुकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में भाषा सीधी और तगड़ी दीख पड़ती है। 'ग्राम्या' में एक बूढ़े का चित्र रुखड़ी-शैली में खींचा गया है :—

खड़ा द्वार पर लाठी टेके वह जीवन का बूढ़ा पंजर
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी, हिलते हड्डी के ढांचे पर
···उसका लंबा डील-डौल है, हट्टी-कट्टी काठी चौड़ी
इस खंडहर में बिजली सी, उन्मत्त जवानी दौड़ी होगी।

यही है भाव के अनुकूल भाषा-शैली, शब्दच्छटा और पद-विन्यास की योजना। निराला ने भी ठेठ भाषा की अकृत्रिम शैली में एक भिक्षुक का मार्मिक चित्र खींचा है—

"वह आता।
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।"

सामाजिक बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने के लिए छन्द के बन्धन भी खुल जाने चाहिए। यों तो छाया-युग में ही पिंगल का पराक्रम बहुत घट गया था, परन्तु इस युग में तो अत्यन्त स्वच्छन्द हो गये।

खुल गए छन्द के बंध, प्रास के रजत पाश।
अब गीत मुक्त औ युगवाणी बहती अयास।

भाषा-शैली और छन्दों में तो परिवर्तन चाहिए ही, साथ ही नवीन प्रतीकों की स्थापना और प्रचलन होना चाहिए। जिस प्रकार एक चित्र बहुतेरी भावनाओं को अपने अन्दर समेटे रहता है, उसी प्रकार काव्य में प्रतीक भी एकाधिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है। 'झीनी चदरिया' 'चरखवा' 'नैहर', 'हंस' 'पिंजड़े' आदि प्रतीकों द्वारा कबीर ने गंभीर-से-गंभीर भावों का सरलता और मार्मिकता के साथ वर्णन किया है। कमल, दीपक, चन्द्रमा, भ्रमर, क्रमशः सौन्दर्य, साधना, उल्लास, प्रेम और मादकता के भावों को व्यक्त करते हैं। महादेवी ने 'दीप शिखा' में अपने जीवन की संपूर्ण साधना को एकाकार कर दिया है। प्रगतिवाद का, क्रांति के अग्रदूत साहित्य का इन प्रेमात्मक प्रतीकों से काम नहीं चल सकता। आजकल प्रगतिशील साहित्य में कुछ नवीन प्रतीकों के दर्शन हो रहे हैं। जैसे—

मशाल—क्रान्ति की ज्योति शिखा।
प्रलय—पुरानी रूढ़ियों के महानाश की कल्पना।
तांडव—क्रान्ति का खुलकर खेलना।
रक्त—त्याग, बलिदान, प्राण।
जोंक—शोषक महाजन।

प्रगतिवाद पर कुछ आक्षेप

प्रगतिवाद की नई किरण से बहुतों की आंखें चौंधिया गई हैं। इसके प्रखर प्रकाश में पोषकता की अपेक्षा दाहकता का अत्यधिक गुण देखकर इसकी काफ़ी टीका-टिप्पणी हुई है।

(१) प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार ही चैतन्य से शून्य जड़तावाद है। इसलिए इस साहित्य में धर्म, ईश्वर, आस्तिकता के प्रति कोई श्रद्धा नहीं। भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं से इसका कोई सरोकार नहीं। यह साहित्य हमारी भारतीय संस्कृति, भारतीय गौरव को समझाने में साधक क्या बाधक ही सिद्ध हो रहा है। चार्वाक की तरह इसे केवल भौतिकता से ही सम्बन्ध है। मानव-जीवन में आध्यात्मिक, स्वर्गीय स्नेह नाम की कोई भावना नहीं। इसकी दृष्टि में रवीन्द्र का रहस्यवाद, गांधी की रामधुन और हृदय की आवाज, महादेवी की प्रेम-साधना सभी निरर्थक एवं हास्यास्पद हैं। इसलिए अध्यात्म, संस्कृति और चेतनता से शून्य यह विदेशी प्रगतिवाद हमारे साहित्य का अभिन्न अंग नहीं बन सकता।

(२) साहित्य की चिरंतनता पर इसका विश्वास नहीं। सत्य, सौंदर्य और आनन्द की अनुभूति हमारी ज्यों-की-त्यों है—पर प्रगतिवाद को उस पर विश्वास नहीं। आज भी वाल्मीकि की रामायण और कालिदास की शकुन्तला हमें उसी प्रकार आनन्दामृत का पान करा रही है, परन्तु प्रगतिवाद की दृष्टि में दुष्यंत का प्रेम सामन्तशाही और विलासिता से परिपूर्ण था, इसलिए इस तरह के काव्य निन्द्य हैं।

(३) प्रगतिवाद समाज के यथार्थ और वास्तविक चित्रण पर जोर देता है। वह प्रणाली की गंदगी की ओर हमारी

नजर मोड़ना चाहता है, तितली और तारे की रंगीन दुनिया से वह हमें हटाना चाहता है। यथार्थवाद पैर है और आदर्शवाद आंख। आंख का अंधा आदमी चल तो सकता है, लेकिन अन्धे कुएं में गिरने का उसे पूरा डर है। मनोविज्ञान के नाम पर प्रगतिवाद मानव के देवत्व को ठुकराकर उसके पशुत्व को, छिपी काम-वासना को उभारता है। 'सेक्स' के अश्लील चित्रण का मानो इसे लाइसेंस मिल गया है। भाई-बहन में भी वासनात्मक प्रेम की झांकी दिखाने में इसे कोई संकोच नहीं। 'शेखर' उपन्यास में शेखर अपने माता-पिता के आलिंगन-चुम्बन का भी खुलकर वर्णन करता है, अपनी बहन सरस्वती को प्रेयसी के रूप में देखता है। मार्क्स और फ्रायड दोनों के सिद्धांतों का नग्न, साहित्यिक रूप प्रगतिवाद है। यह साहित्य समाज के सन्मुख कोई आदर्श प्रस्तुत नहीं कर सकता। \

(४) प्रगतिवादी साहित्य एकांगी है। समाज में पण्डित-मूर्ख, सती-कुलटा, राजा-रंक, मालिक-मजदूर सभी हैं; लेकिन यह केवल मूर्ख, कुलटा, रंक और मजदूरों के ही गीत गाकर वाह-वाही लूटता है। मजदूरों में अपने प्रभुओं के प्रति घृणा-भाव उत्पन्न करना, खून खराबी के लिए उन्हें प्रस्तुत करना—यही इसका कर्तव्य है। शांति की अपेक्षा संघर्ष में इसका विश्वास है। इसके मूल में प्रचार की ऊपरी चहल-पहल है, सृजन की भीतरी साधना नहीं।

(५) अधिकांश प्रगतिशील लेखकों में शोषित वर्ग के प्रति मौखिक सहानुभूति ही रहती है। गरीबी का बिना अनुभव किए ही ये 'बुर्जुआ' लेखक गरीबी का चित्रण कर बैठते हैं। इसलिए उनकी रचनाएं कृत्रिम और भड़कदार होती हैं।

इन आक्षेपों के अलग-अलग उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। प्रचार की दृष्टि से कट्टर प्रगतिवादी रचनाओं में ये दोष साधारणतः पाये भी जाते हैं। इन आक्षेपों के उत्तर में संक्षेप में यहां यही कहा जा सकता है कि 'वाक्यं रसात्मक काव्यं' के प्रति किसी भी सहृदय को आपत्ति या विरक्ति नहीं होनी चाहिए। हमारे यहां वीभत्स भी, जिसमें मज्जा, चर्बी, हाड़-मांस आदि का वर्णन किया जाता है, नव-रस में परिगणित किया जाता है। वीभत्स रस में भी और रसों की तरह समान रूप से आनन्दानुभूति मानी गई है। इस प्रकार यदि प्रगतिवाद में नग्न यथार्थवाद का रसात्मक वर्णन हो तो वह काव्य की श्रेणी में ही आयगा। क्षुद्र-से-क्षुद्र और महान्-से-महान् वस्तु काव्य का विषय हो सकती है। जिस कवि या लेखक के हृदय में अपने विषय के प्रति सच्ची अनुभूति है वह हथौड़े या हिमालय पर, ताड़ीखाना या अलकापुरी पर, प्रणाली या आकाश-गङ्गा पर समान सफलता के साथ काव्य-सृजन कर सकता है। कवि की सफल लेखनी श्मशान और नंदन-कानन का वर्णन कर समान रूप से रसास्वादन करा सकती है और सच पूछिए तो हमारी जिन्दगी के लिए धरती

और आसमान दोनों चाहिएं। पैर के लिए धरती और माथे के लिए आसमान। गीता के समदर्शी पण्डित की तरह कवि, ब्राह्मण और चांडाल में, गौ और कुत्ते में, कुंजर और कीट में एक ही धड़कते हुए प्रेम-पूर्ण हृदय को पाकर आनन्द-विभोर हो जाता है। संसार के सभी प्राणी उसकी श्रद्धा और सहानुभूति की अपेक्षा कर रहे हैं। तो आलोचकों का आक्षेप प्रगतिवाद के सच्चे काव्य के प्रति नहीं, बल्कि उसके साम्प्रदायिक रूप के प्रति है। कोई भी साहित्य साम्प्रदायिक रंग में रंगकर किसी दल विशेष के गले की आवाज बनकर कुछ काल के लिए उसका प्रचार (Propaganda) तो अवश्य कर सकता है, परन्तु वह सहृदय के गले का हार नहीं हो सकता। युग-युग क्या वह दो दिन भी नहीं जी सकेगा। काव्य का आधार दर्शन भले ही हो, परन्तु वह किसी खास दर्शन का प्रसार कर अपना उपहास नहीं करता है। सूर और तुलसी ने, मीरा और महादेवी ने किसी 'वाद' का प्रचार नहीं किया है, बल्कि अपने हृदय की वेदना और उल्लास को अपने इष्टदेव के सम्मुख सच्चाई के साथ निवेदित किया है। सच्चाई काव्य का कारण है।

यमुना धार पर रोती हुई विधवा दिल्ली के दुःख-दर्द की अवहेलना कर मास्को के गीत गानेवाले कवि 'गानेवाले' हो सकते हैं, कवि नहीं। मजहब के नाम पर पच्छिम के मुल्कों में तबाही और बरबादी हुई। इसलिए देवता की भूमि भारतवर्ष में भी, धर्म के अभ्युत्थान के लिए शरीर धारण करने-

वाले भगवान् की हंसी उड़ानेवाले कवि, कांके में भर्ती न किये जायं तो आश्चर्य ही है। जमींदारों और पूंजीपतियों के खून से मजदूरों की फुलवारी सींचना वीभत्स कर्म है। जमींदारों और किसान, मिल-मालिक और मजदूर, दोनों परिस्थितियों के शिकार हैं। सच्चा प्रगतिवादी लेखक प्रेमचन्द्र की तरह 'गोदान' में दोनों का कल्याण चाहता है। रायसाहब और होरी दोनों का उद्धार होना चाहिए। मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों को तोते की तरह रटकर काव्य में उन्हें दुहराते रहना कोई बहादुरी नहीं बल्कि वेवकूफी है। भारत की अपनी सामाजिक समस्या है। और इसे भारतीय ढंग से सुलझाना है। 'कामरेड' से नाता जोड़ने के पहले हमें अपने 'भाई' से गले मिलना है। अपने उजड़े चमन को छोड़कर औरों के महलों में चहकना फूहड़पन है। बिना जाने-बूझे ही गांधीवाद की शव-परीक्षा करना, राम-राज्य की खिल्ली उड़ाना, अपने अनसयानेपन का परिचय देना है। इसलिए मार्क्सवाद का दीक्षित शिष्य, कम्यूनिज्म का कंठ-स्वर, यह साम्प्रदायिक प्रगतिवाद अंधानुकरण की चीज नहीं है। साहित्य में पददलित या सर्वहारा वर्ग के जीवन का चित्रण हो, समाज में समान रूप से सुख-शान्ति का संचार हो, प्रत्येक बिरवे को विकसित होने का मौका मिले, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जीवन का मूल-मंत्र है,—प्रगतिवाद की ये बातें किसे मान्य नहीं होंगी। और देखा जाय तो प्रगतिवाद की इन विशेषताओं से हमारा प्राचीन हिन्दी

साहित्य अछूता नहीं बचा है।

वीरगाथाकाल की कविता राजा के मनोरंजन के साथ प्रजा में भी वीरता का संचार करती थी। वीर-काव्य में नूपुर और तलवार की मीलित झंकार सुनाई पड़ती है। भूषण की कविता ने विधर्मी और ज़ुल्मी-शासन के प्रति खुलकर बग़ावत की है। कबीर ने धार्मिक भेद-भाव, अंध-विश्वास, छूआछूत के विरुद्ध आग उगली है। पंडितों और मुल्लाओं की 'सधुक्कड़ी भाषा' में ही सही, खूब खबर ली है।

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई, गागर छुवन न देई।
वेश्या के पायन तर सोवे, यह देखो हिंदुआई।
मुसलमान के पीर औलिया, मुर्गा मुर्गी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घरहि में करैं सगाई।

वेश्या के शरीर पर खासा मलमल देखकर और सतवंती नारी को गज-भर कपड़े के लिए भी आतुर देखकर, कबीर की आंखें भर आई हैं। समाज के आर्थिक और धार्मिक वैषम्य को समाज की ही व्यंगपूर्ण भाषा में निर्भीकता के साथ कह देने वाला कवि एक कबीर ही है। इतिहासकारों और दरबारियों ने सम्राट् अकबर के राज्य-शासन की प्रशंसा भले ही की हो, लेकिन महाकवि तुलसीदास जी की दृष्टि में वह विशाल 'साम्राज्य दुःख दारिद्रय और बेकारी से परिपूर्ण है। ब्रिटिश-राज्य की-सी दशा अकबर के समय में भी वर्त्तमान थी:—

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बानिज न, चाकर को न चाकरी
जीविका-विहीन लोग, सीधमान सोचवश
कहैं, एक एकन सों, "कहां जाइ" "का करी"।

दीनता-दशानन ने दुनिया को दबा रखा है, अपने जबड़े के नीचे। तुलसीदासजी ने दरिद्रता का, पेट की ज्वाला का स्वयं अनुभव किया था। इसीलिए सैकड़ों वर्ष बाद भी इनकी भाषा में वही कसक और पीड़ा है।

हमारे गौरांग महाप्रभु के पदार्पण से भारतेन्दु-युग में दरिद्रता, बेकारी, अकाल, मंहगी, टैक्स बेतरह बढ़ गई थी। यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएटों की बेकारी की कल्पना तो वह पहले ही कर चुके थे—ब्रिटिश-राज के देवता पुलिस-जी से वह भली-भांति परिचित हो चुके थे।

रूप दिखावत सर्वस लूटै, फंदे में जो पड़ै न छूटै।
कपट-कटारी हिय में हूलिस, कहु सखि साजन नहिं सखि पुलिस।

नील देवी, भारत-दुर्दशा आदि रचनाओं में भारतेन्दु ने भारत की दशा का अच्छी तरह चित्र खींच दिया है। भारतेन्दु के समकालीन पं० प्रताप नारायण मिश्र की 'तृप्यताम्' कविता में भारत की ग़रीबी, महामारी और मरी का बड़ा ही करुण चित्र उतारा है।

मंहगी और टिकस के मारे, हमहिं क्षुधापीडित तन छाम।
साग-पात लौं मिलै न जिय भरि, लेवो वृथा दूध को नाम।
तुमहि कहा प्यावै, जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।

केवल मुमुखि अतक उपमा लहि, नागदेवता तृप्यंताम् ।
लैसन, इनकम, चुंगी चंदा, पुलिस अदालत बरसा घाम ।
सबके हाथन असन बसन; जीवन संसय मय रहत मुदाम ।
जो इन हूँ ते प्रान बचै तो गोली बोलति आप धड़ाम ।
मृत्यु देवता नमस्कार तुम, सब प्रकार वस तृप्यंताम् ।

'प्रगतिवाद' की मुहर के बिना ही ये कविताएं कितनी प्रगतिशील हैं ।

इस प्रकार संपूर्ण प्रगतिशील साहित्य के तीन रूप हमारे सामने दीख पड़ते हैं :—

(१) मार्क्सवाद पर आधारित साम्प्रदायिक रूप ।

(२) राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को चित्रित करने वाला सामयिक रूप एवं

(३) विश्व के सभी साहित्य में सामाजिक वैपम्य के प्रति विद्रोह का स्वर उठाने वाला सनातन रूप ।

खुशी की बात है कि दिनोंदिन प्रगतिवाद का कट्टर साम्प्रदायिक स्वर मंद पड़ रहा है और इसका विशुद्ध भारतीय रूप निखर रहा है । प्रगतिवाद के हिमायती समझौते के लिए भारतीय काव्य-परम्परा से हाथ मिला रहे हैं । प्रगतिशील साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ समालोचकों की दृष्टि में कबीर और तुलसी के काव्य 'बहता पानी निर्मला' हैं । इसकी प्रमुख और प्रगतिशील धारा में समाज का मैल धुल जाता है । गोस्वामी जी ने भक्ति के प्रताप से तुच्छ, नीच पुरुष को भी महानता का अनुभव करा दिया । एक

भक्त के सामने सम्राट् अकबर की सत्ता भी नगण्य है। रीति-काल के कठघरे से कविता-कामिनी को मुक्त करने वाले, साहित्य में स्वतन्त्रता, उन्मुक्त प्रकृति-सौन्दर्य और प्रेम का प्रचार करने वाले, हिन्दी के आधुनिक छायावादी कवि भी अब श्रद्धा की निगाह से देखे जा रहे हैं। संस्कृति का नाम सुनते ही, लाल कपड़े देखकर सांड़ की तरह चौंकने वाले विचित्र जीवों का अब अभाव हो रहा है। प्रगतिवाद में सरसता और कलात्मकता का संचार हो रहा है। भाषा का अहंकार, शब्दों का आडम्बर, प्रलय और अग्निकाण्ड की आवश्यक मांगें धीरे-धीरे टलती जाती हैं:—

प्रगति हमारे जीवन की हो। प्रगति हमारे साहित्य की हो। हमारी सर्वतोमुखी प्रगति हो। कोल्हू के बैल की तरह एक ही वृत्त में घूमते रहने से हमारी प्रगति नहीं हो सकती। हिमालय के समान धरती में चरण रखते हुए, ऊपर उठते जाना, उज्ज्वलतर रूप धारण करते जाना—हमारी सच्ची प्रगति है।

प्रगतिवादी काव्य का साम्प्रदायिक रूप, प्रचारक रूप तो अन्तिम घड़ियां गिन रहा है, लेकिन इसकी जिन कविताओं में मानव-हृदय की वेदना, जलन, आह और उल्लास का चित्रण है, वे कविताएं अमर रहेंगी। प्रगतिवाद की अधिकांश रचनाएं इस युग की मांग हैं; समय में परिवर्त्तन होते ही, समाज में सुख-शान्ति का संचार होते ही, ये सामयिक रचनाएं अपना महत्त्व खो देंगी—तब इनका ऐतिहासिक महत्त्व होगा।

प्रगतिवाद का भविष्य, भविष्य के गर्भ में छिपा है। आधुनिक साहित्यकारों से प्रगतिवाद की यह अपील कितनी मार्मिक है।

यह देख, पेट की आग देख।
इन डसे मुखों की झाग देख।
अपनी मां के रज से पैदा,
अपनी बेशर्मी से नंगे,
तू ये डांगर दो टांग देख।
फिर अपनी चिकनी मांग देख।
ओ कलम-कुशल! ओ व्यंग्य प्राण!
जिसने देखा हिन्दुस्तान,
हरियाली में देखे हैं
जिसने भूखे सूखे किसान,
वह गाये कैसे प्रणय गान?
मारो ठोकर निःश्वासों में,
अब आग लगा दो बांसों में,
बेशर्म बांसुरी बहुत बज चुकी,
बहुत बज चुकी,
भारत की आरत पुकारती लाशों में
विगलित कल्पना विलासों में
ओ धनी कलम के आंख खोल,
अब वर्तमान बस, सत्य बोल!
इस दुनिया की भाषा में कुछ

घर की कह,

समझें घर वाले ।

उनके जीवन की गांठ खोल !

उनकी सूखी रोटियां तोल ।

मत बन तू परदेशी घर में,

लेखनी-दधीची ले कर में,

लिख चुका बहुत तू काम-शास्त्र,

काले, अब काल-शास्त्र कुछ लिख,

हां जिला, और तू भी जी ले ।

प्यारे, लेखनी सफल कर ले ।

: ८ :

उपन्यास

(प्रो० गुलाबराय एम० ए०)

कथा-कहानी सुनने की प्रवृत्ति मनुष्य में चिरकाल से चली आ रही है। सभी लोगों ने राजा और रानी की कहानी अपने बाल्य-काल में सुनी होगी। यह विदित है कि स्वाभाविक प्रवृत्ति उस काल की कहानियों का मुख्य उद्देश्य 'फिर' अथवा उसके पश्चात् 'क्या हुआ' की जिज्ञासा की पूर्त्ति रहा। यह जिज्ञासा अमर है और सदा अतृप्त रहती है। अधिकांश पाठकों ने एक राजा की कहानी सुनी होगी जो कभी न खत्म होने वाली कहानी सुनना चाहता था। इस इच्छा की पूर्त्ति में सैकड़ों असफल कहानी सुनाने वाले कैदखाने में डाल दिये गए। आख़िर एक ने ऐसी कहानी सुनाई जिसमें 'फिर' के उत्तर में बहुत काल तक 'फिर फिर' वही उत्तर मिलता गया, 'फिर एक चिड़िया आई और एक दाना लेकर फुर्र उड़ गई, फिर एक चिड़िया आई और एक दाना लेकर फुर्र उड़ गई।' राजा वही उत्तर सुनते-सुनते उकता गया और उसको अपनी हार माननी पड़ी। इस कहानी में सारे कथा-साहित्य का तत्त्व आ गया—वह यह कि कथा सुनने में सुनने वाला एक स्वाभाविक कौतूहलवश 'आगे क्या हुआ' जानने के लिए उत्सुक रहता है

किन्तु जब तक उत्तर में कुछ नवीनता न हो उसका जी ऊब जाता है और उसके कौतूहल की हत्या हो जाती है।

प्राचीन और नवीन

आजकल शिक्षित समाज ने ऐसी कहानी तो कोई नहीं बनाई जो कभी न खत्म हो–'अलिफ़-लैला' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' जैसे लम्बे कथानकों का भी अन्त हो जाता है—किन्तु इस प्रकार के साहित्य को इतना विस्तार दे दिया गया है कि अनन्त काल तक पढ़ते चले जाओ और उसका पार न मिले। उपन्यास, आख्यायिका, सभी इस अनन्त कौतूहल की शांति के साधन हैं। आजकल के उपन्यास पुरानी कहानी के संतान-स्वरूप अवश्य हैं किंतु संतान अपनी माता से कई बातों में भिन्न है। वर्तमान उपन्यास और कहानी पुरानी कहानी से अधिक संगठित होती है। इसमें कार्य-कारण-शृङ्खला स्पष्ट रहती है। आजकल के उपन्यास में कौतूहल के साथ बुद्धि-तत्त्व और भाव-तत्त्व की भी पुष्टि होती है। आधुनिक उपन्यासों में जीवन का क्षेत्र पहले से अधिक व्यापक हो गया है और वह जानवरों तथा देवी-देवताओं में से हटकर अधिकतर मनुष्य के क्षेत्र में केन्द्रस्थ हो गया है।

व्युत्पत्ति

अंग्रेज़ी शब्द 'नाविल' (Novel) में, जिसका अर्थ नवीन है, ऊपर की कहानी का तत्त्व भरा हुआ है। मराठी भाषा में अंग्रेज़ी शब्द के आधार पर 'नवल कथा' शब्द गढ़ लिया गया है। मराठी भाषा में उपन्यास को 'कादम्बरी' भी कहते हैं। यह एक व्यक्तिवाचक नाम

जातिवाचक बनाने का अच्छा उदाहरण है। उपन्यास शब्द प्राचीन है, कम-से-कम उस अर्थ में जिसमें उसका आजकल व्यवहार होता है। संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों में 'उपन्यास' शब्द है। यह नाटक की संधियों का एक उपभेद है, (प्रतिमुख संधि का) इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गई है। 'उपन्यासः प्रसादनम्' अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं। दूसरी व्याख्या इस प्रकार है। 'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः संकीर्तितः' अर्थात् किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना उपन्याप कह-लाता है। सम्भव है कि उपन्यासों में प्रसन्नता देने की शक्ति तथा युक्तियुक्त रूप में अर्थ को उपस्थित करने की प्रवृत्ति के कारण इस तरह की कथात्मक रचनाओं का नाम उपन्यास हो, किन्तु वास्तव में नाटक के उपन्यास शब्द और आजकल के उपन्यास में नाम का ही साम्य है। उपन्यास का अर्थ है—सामने रखना। अस्तु, जो कुछ भी उपन्यास शब्द का इतिहास हो, इस प्रकार का साहित्य आजकल बहुत लोक-प्रिय हो रहा है। यदि पुस्तकालयों द्वारा लोक-प्रिय पुस्तकों की गणना की जाय तो उपन्यासों और कहानियों का स्थान ही सबसे ऊंचा निकलेगा।

कथा और आख्यायिका

प्राचीन काल में कथात्मक साहित्य की कमी न थी किन्तु गद्य में बहुत कम कथाएँ लिखी जाती थीं। उपन्यास के ढंग पर बड़ी कहानियों के तो कादम्बरी, दश-कुमार चरित, वासवदत्ता आदि गिनती के ही ग्रन्थ मिलेंगे। छोटी कहानियों के बौद्ध जातक, बृहत्कथा,

हितोपदेश, पञ्चतंत्र, द्वात्रिंशत् पुत्तलिका आदि कई ग्रन्थ हैं। कथा और आख्यायिका नाम पुराने हैं। दण्डी ने कथा और आख्यायिका का भेद बतलाकर फिर उसका निराकरण कर दिया है। दण्डी ने कहा है कि—आख्यायिका वह है जो केवल नायक द्वारा कही जाय और कथानायक के अतिरिक्त और दूसरे किसी के द्वारा भी कही जा सकती है। फिर वे यह कहते हैं कि कहने वाले के आधार पर कोई भेद करना ठीक नहीं।
'अन्योवक्ता स्वयंवेति कीदृग्वा भेदकारणम् ।'

उपन्यास में कल्पना का पूरा संयम और व्यायाम रहता है। उपन्यासकार विश्वामित्र की-सी सृष्टि बनाता है किन्तु ब्रह्मा सृष्टि के नियमों से भी बँधा रहता है। उपन्यास

उपन्यास और नाटक

में सुख, दुःख, प्रेम, ईर्ष्या, आशा, अभिलाषा, महत्त्वाकांक्षाओं, चरित्र के उत्थान और पतन आदि जीवन के सभी दृश्यों का समावेश रहता है। उपन्यास में नाटक की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता है किन्तु नाटक के मूर्त्त साधनों के अभाव में उपन्यासकार उस कमी को शब्द-चित्रों द्वारा पूरा करता है। नाटक में पात्र कुछ शब्दों द्वारा व्यञ्जित करते हैं और कुछ भाव-भङ्गी द्वारा। दर्शक को कल्पना पर अधिक जोर नहीं देना पड़ता। देश, काल और परिस्थिति भी सीन-सीनरी द्वारा व्यक्त हो जाती है। नाटककार के इन सुभीतों के न होते हुए भी उपन्यासकार को जीवन का सजीव चित्र अंकित करना पड़ता है। उपन्यासकार एक प्रकार का जेबी-

थियेटर बन जाता है। उसके लिए घर से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। घर के भीतरी भाग में और वन-उपवन सभी स्थानों में उसका आनन्द लिया जा सकता है। किन्तु इस आनंद-दान के लिए उपन्यासकार को शब्द-चित्रों का सहारा लेना पड़ता है। उपन्यासकार को नाटककार की भांति समय और आकार का भी प्रतिबन्ध नहीं है। उपन्यासकार का पाठक अपने कक्ष में या कक्ष से बाहर भी चाहे जितनी देर तक उसे पढ़ता रह सकता है। नाटक का द्रष्टा नियत समय तक ही नाटक-भवन में रह सकता है किन्तु इसी के साथ नाटक में उपन्यास की अपेक्षा सामाजिकता अधिक है। उपन्यास और नाटक में एक विशेष अन्तर यह भी है कि उपन्यासकार अपनी कृति में समय-समय पर प्रकट होता रहता है और वह स्वयं पात्रों के चरित्र अथवा उनके कार्यो के आन्तरिक रहस्यों पर प्रकाश डालता रहता है। नाटककार ईश्वर की भांति अपनी सृष्टि में अव्यक्त ही रहता है, वह प्रत्यक्ष रूप से स्वयं कुछ नहीं कहता, जो कुछ कहना होता है, वह पात्रों द्वारा ही कहला देता है।

उपन्यास जीवन का चित्र है, प्रतिबिम्ब नहीं। जीवन का प्रतिबिम्ब कभी पूरा नहीं हो सकता। मानव-जीवन इतना पेचीदा है कि उसका प्रतिबिम्ब सामने रखना प्राय: असम्भव है। उसके प्रतिबिम्ब उतारने के लिए जीवन-काल के बराबर ही लम्बा चित्रपट चाहिए। चलचित्रों में भी जो

प्रतिबिम्ब नहीं वरन् चित्र है

जीवन का चित्र खींचा जाता है उसमें चुनाव रहता है। उप-न्यासकार के शब्द-चित्रों में भी चुनाव की आवश्यकता है किन्तु उसके कारण तारतम्य नहीं टूटने पाता, इसी में उपन्यास-कार का कौशल है। उपन्यासकार जीवन के निकट-से-निकट आता है किन्तु उसे भी जीवन में बहुत-कुछ छोड़ना पड़ता है किन्तु जहां छोड़ता है वहां वह अपनी तरफ से जोड़ता भी है। जितना हम उपन्यास के पात्रों को समझते हैं उतना जीवन के पात्रों को नहीं समझ पाते। जीवन के पात्र हमारे लिए अभेद्य रहस्य ही बने रहते हैं। जीवन में मानव-विचारों के जानने के लिए कोई मस्तिष्क-वेधी, सूक्ष्म विचारों को प्रकाश में लाने वाली 'एक्स-किरण' नहीं है। उपन्यासकार अपनी दिव्य-दृष्टि से पात्रों के मनोविकारों और विचारों को प्रकाश में ले आता है। महाराणा प्रताप या तेजसिंह के वास्तविक जीवन के विषय में हमको इतिहास भी उतना नहीं बतलाता जितना कि उपन्यासकार अपनी कल्पना के बल से चित्रण कर देता है। मानव-समाज के चित्रण में इतिहास और उपन्यास की समानता है। इतिहास और उपन्यास दोनों ही भूत का वर्णन करते हैं किंतु इन दोनों के दृष्टिकोण में भेद है।

उपन्यास और इतिहास

हमारा बहुत-सा वास्तविक जीवन अव्यक्त रहता है। उप-न्यासकार व्यक्त का बहुत सा हिस्सा छोड़कर अव्यक्त को व्यक्त करता है। इतिहासकार व्यक्त का भी उतना ही हिस्सा लेता है, जितना कि राष्ट्र व जाति के

उत्थानपतन से सम्बन्ध रखता है। इतिहासकार के लिए बाह्य घटनाएं मुख्य हैं। आंतरिक भावनाओं का भी यह कभी-कभी वर्णन करता है; किन्तु उतना ही जितना कि बाह्य घटनाओं से अनुमेय हो सके। उपन्यास कार पात्रों के मन का विश्लेषण ही नहीं करता, वरन् वह एक विश्वास-पात्र की भांति पात्रों के मन का आंतरिक रहस्य भी बतलाता है। इतिहासकार के लिए राष्ट्र मुख्य है, व्यक्ति गौण। उपन्यासकार के लिए व्यक्ति ही सब-कुछ है। वह भी राजसिंह, दुर्गादास, महाराणा प्रताप, संयोगिता, छत्रसाल आदि का वर्णन करता है, किन्तु वह उनके व्यक्तित्व की ओर अधिक ध्यान देता है। समाज और राष्ट्र को वह पृष्ठभूमि के रूपमें ही अङ्कित करता है। इतिहासकार केवल यह लिखकर सन्तुष्ट हो जायगा कि अमरसिंह महाराणा प्रताप के साथ खाने में न बैठने से अपमानित हुआ था; किंतु वह उस अपमान के भाव का स्वरूप नहीं खींचेगा। उपन्यासकार उसके भावों के उत्थान-पतन का पूरा चित्र खींच देगा। उसके लिए यह बात इतना महत्त्व नहीं रखती कि शिवाजी इस किलेमें बंद हुए अथवा उस किले में (यह इतिहासकार का विषय है) जितना कि किले में बन्द होने पर उनके भाव और विचार। इस किले अथवा उस किले में बन्द होने से शिवाजी के व्यक्तित्व में हम अधिक अन्तर नहीं पाते। उपन्यासकार अपने पात्रों को मनुष्य के दृष्टिकोण से देखता है, इतिहासकार राष्ट्र के सम्बन्ध से देखता है, इसलिए उसका क्षेत्र इतना व्यापक नहीं होता। उपन्यास-

कार के लिए गंगू तेली और राजा भोज बराबर हो जाते हैं (यदि गंगू तेली के हृदय का कोई भाव मानव-हृदय के लिए कोई विशेष महत्त्व रखता हो)।

इतिहासकार केवल खोज करता है, परिस्थिति और घटना का वर्णन करता है, उसका निर्माण नहीं करता। उपन्यासकार वैज्ञानिक की भांति नई परिस्थितियों का निर्माण कर सामाजिक प्रयोग भी करता है। यह बात इतिहासकार के क्षेत्र से बाहर है, इसलिए कहा जाता है कि इतिहास में मौलिकता के लिए स्थान नहीं। विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपने 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक निबन्ध में कहा है कि 'उपन्यास में इतिहास मिल जाने से एक विशेष रस संचारित हो जाता है, उपन्यासकार एक-मात्र उसी ऐतिहासिक रस के लालची होते हैं, उसके सत्य की उन्हें कोई विशेष परवाह नहीं होती।.........काव्य में जो भूलें हमें ज्ञात होंगी, इतिहास से हम उनका संशोधन कर लेंगे। किन्तु जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहास को पढ़ने का अवसर नहीं पायगा, वह हतभाग्य है और जो व्यक्ति केवल इतिहास को ही पढ़ेगा और काव्य के पढ़ने के लिए अवसर नहीं पायगा, सम्भवतः उसका भाग्य और भी मन्द है।"

एक अंग्रेजी लेखक ने कहा है, "उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती हैं, इतिहास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात सची

नहीं होती" यह बात अत्युक्ति अवश्य है; किन्तु इससे उपन्यास और इतिहास की प्रवृत्ति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उपन्यास में हृदय के सत्य की अपेक्षा नाम और तिथियों को कम महत्त्व दिया जाता है। इतिहास की दृष्टि में भावों की अपेक्षा नाम और तिथियों को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता है। इतिहास में एक तिथि निश्चित करने के लिए पन्ने-के-पन्ने रंगे जाते हैं; किन्तु उपन्यास में ऐसा नहीं होता। उसके दृष्टिकोण में शाश्वतता और व्यापक मानवता का अधिक मान है, इसी से उसमें तिथियों का कम महत्त्व रह जाता है।

उपन्यास की सीमाएं

उपन्यास में व्यक्ति की अधिक प्रधानता के कारण वह जीवनी के अधिक निकट आता है; किन्तु जीवनीकार इतिहासकार की भांति सत्य से अधिक बंधा रहता है, उपन्यासकार सत्य का आदर करता हुआ भी अपने आदर्शों की पूर्ति तथा कथा को अधिक रोचक या प्रभावशाली बनाने के लिए कल्पना से काम ले सकता है। वह घटना के सत्य से नहीं बंधता, वरन् संगीत और सम्भावना से नियंत्रित रहता है। इसलिए उपन्यास जीवनी और काव्य के बीच की वस्तु है। कहीं-कहीं उसमें जीवन-सम्बन्धी मीमांसा का दार्शनिक तत्त्व भी आ जाता है। उसमें जीवनी का-सा व्यक्तित्व और सत्य का भी आग्रह रहता है किन्तु उसका सत्य का मान-दण्ड काव्य के मान-दण्ड

से मिलता है। उसमें सत्य को सुन्दर और रोचक रूप में देखने की प्रवृत्ति रहती है। उपन्यास की चार सीमाएं निर्दिष्ट की जा सकती हैं। एक ओर वह इतिहास या जीवनी की-सी वास्तविकता का अनुकरण करता है (व्यक्तित्व के साथ) दूसरी ओर उसमें काव्य का-सा कल्पना का पुट, भावों का परिपोषण और शैली का सौंदर्य रहता है। इसके साथ यदि एक ओर उसमें दार्शनिक की-सी जीवन-मीमांसा और तथ्योद्‌घाटन की प्रवृत्ति रहती है तो दूसरी ओर उसमें समाचार-पत्रों की-सी कौतूहल वृत्ति और वाचालता भी रहती है।

परिभाषा

डाक्टर श्यामसुन्दरदास की दी हुई उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार है:—उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है। मुंशी प्रेमचंदजी उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र कहते हैं।

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूं। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"

'New English dictionary की उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार है:—

'A Ficticious prose tale or narrative of considerable length, in which characters and actions professing to represent those of real life are portrayed in a plot'.

अर्थात् एक लम्बे आकार की काल्पनिक कथा या प्रकथन

है जिसके द्वारा एक कार्य-कारण-शृंखला में बधे हुए कथानक में वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले पात्रों और कार्यों का चित्रण किया गया हो। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि उपन्यास कार्य-कारण-शृंखला में बंधा हुआ वह गद्य कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदगी के साथ वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से संबंधित वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा मानव-जीवन के सत्य का रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।

उपन्यास के तत्त्व

उपन्यास के तत्त्व थोड़े-बहुत मतभेद के साथ इस प्रकार पाए जाते हैं—(१) उपन्यास-वृत्त या कथावस्तु, (२) पात्र और चरित्र-चित्रण, (३) वार्तालाप या कथोपकथन, (४) वातावरण, (५) विचार और उद्देश्य, (६) रस और भाव, (७) शैली।

भिन्न-भिन्न उपन्यासकार अपनी रुचि और आवश्यकताओं के अनुकूल भिन्न-भिन्न अंगों या तत्त्वों पर अधिक बल देते हैं। वास्तव में ये तत्त्व एक दूसरे से मिले रहते हैं और इनको एक दूसरे से अलग करना इतना ही कठिन है जितना कि किसी सुन्दर फूल से उसका रंग। आजकल के लोग कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर अधिक ज़ोर देते हैं। संस्कृत-साहित्य में नाटक के तत्त्व का तो अच्छा विवेचन किया गया है किन्तु कथात्मक साहित्य के अधिक न होने से इस विषय पर उन्होंने कम लिखा है। दण्डी के काव्यादर्श आदि ग्रन्थों में कथा और

आख्यायिका के भेद पर थोड़ा-बहुत विचार किया गया है। उपन्यास के तत्त्वों के संबंध में जो विचार हिन्दी ग्रन्थों में दिया गया है वह अधिकांश अंग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर है किन्तु आदर्शों के भेद और रुचि-वैचित्र्य के कारण इन तत्त्वों के विवेचन में थोड़ा-बहुत अन्तर हो सकता है। अब एक-एक तत्त्व का अलग-अलग विवेचन किया जायगा।

कथा-वस्तु

अच्छे कथानक के गुण

यद्यपि आजकल इस तत्त्व को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है तथापि यह उपन्यास का मूल है क्योंकि आख़िर उपन्यास की गणना कथात्मक साहित्य में ही की जाती है। यह ही उपन्यास की भित्ति है जिस पर मनचाहे रंग में चित्र अंकित किये जा सकते हैं। चित्रों की सुन्दरता में भित्ति का विशेष प्रभाव पड़ता है। उपन्यासकार का बहुत कुछ कौशल उसके कथानक के चुनाव में है। यद्यपि वर्णन-कौशल द्वारा साधारण कथानक में भी सुन्दरता लाई जा सकती है तथापि रचना की उत्तमता अधिकांश में सामग्री की उत्तमता पर निर्भर रहती है। जो सुन्दर मूर्ति संगमर्मर की गढ़ी जा सकती है वह खुरदरे कड़े पत्थर की नहीं। तुलसीदासजी की सफलता उनके चरित्र-नायक के चुनाव तथा वर्णन-कौशल में ही है। कथानक का विषय कहीं जीवन से मिलता है और कहीं इतिहास-पुराण आदि ग्रंथों से। जीवन

से लिए हुए कथानक में लेखक सहज ही में सजीवता ला सकता है। इतिहास के पात्रों में सजीवता लाने के लिए अधिक कल्पना की आवश्यकता होती है।

कथानक का विषय चुनकर इसका उचित विन्यास उपन्यास-कार का दूसरा कार्य है। वह देखता है कि कितना लिखे और कितना न लिखे। जो रखा जाय उसमें किस प्रकार से क्रम और कार्य-कारण की शृंखला स्थापित की जाय तथा उसे पाठकों की रुचि के अनुकूल बनाया जाय। क्रम और कार्य-कारण-शृंखला ही उपन्यास-वृत्त का मूल है। यही बात उपन्यास को 'नानी की कहानी' से पृथक् करती है। उपन्यास के पढ़ने वालों में केवल कौतूहल की ही वृत्ति नहीं होती, वरन् स्मृति और बुद्धि भी होती है। वे पूर्वापर सम्बन्ध लगाते हैं और उसकी युक्तिमत्ता तथा सम्भावना भी देखते हैं। पाठकगण अपने भावों और विचारों की पुष्टि के लिए मानसिक खाद्य चाहते हैं। इसके अतिरिक्त वे कथानक की रोचकता की भी अपेक्षा करते हैं। अच्छे कथानक के गुण नीचे दिये जाते हैं।

मौलिकता—अच्छे कथानक में मौलिकता, कौशल, संभवता, सुसंगठितता तथा रोचकता आवश्यक हैं। मौलिकता का प्रश्न बड़ा जटिल है। वैसे तो जितने उपन्यास हैं, उन सबके कथानक पन्द्रह-बीस मूल समस्याओं में घटाये जा सकते हैं। अधिकतर उपन्यासों में एक प्रेमी किसी को प्रेम करता है, फिर बाधाएं उपस्थित होती हैं, कहीं पर वे बाधाएं निरस्त कर दी जाती हैं

और कहीं पर इतनी बढ़ जाती है कि दोनों ओर नैराश्य फैल जाता है। कभी मृत्यु तक हो जाती है और कभी संन्यास, समाज-सेवा आदि का सहारा लेकर नैराश्य को भुला दिया जाता है। कहीं पर त्याग की भावना अधिक दिखाई जाती है, तो कहीं पर स्वार्थ-साधन में चातुर्य की विशेषता। कुछ उपन्यासों में डाका, हत्या, चोरी आदि की खोज और कुछ में साहस के कार्य दिखलाये जाते हैं। यद्यपि आज-कल उपन्यास के विषय का क्षेत्र बहुत कुछ विस्तृत होता है और उसमें विचार तथा विश्लेषण का पर्याप्त मात्रा में समावेश हो गया है तथापि अधिकांश उपन्यासों में उपर्युक्त बातों से कोई-न-कोई बात अवश्य रहती है किंतु इन्हीं बातों के दिखलाने की भिन्नता में लेखक की मौलिकता होती है। एक ही भाव कई प्रकार से दरशाया जा सकता है, जैसे त्याग कहीं तो धन-सम्पत्ति का, कहीं सिद्धांतों का और कहीं महत्त्वाकांक्षाओं का। इसी प्रकार प्रेमियों का प्रथम दर्शन कई प्रकार से बतलाया जाता है। कोई तो नायक-नायिका का प्रथम मिलन बालक-बालिकाओं की क्रीड़ा में, जैसे गुड़ियों का घर बनाते हुए या रेत का भाड़ बनाते हुए, दिखाते हैं (जैसे शरद बाबू के 'देवदास' में),कोई लेखक नायक-नायिका को ट्राम-कार में मिलाते हैं, कोई तीर्थ-यात्रा में (यथा बा० जयशंकर प्रसाद के 'कङ्काल' में) या दुर्घटना में (जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'नौका डूबी' में), तो कोई स्कूल या कालिज, सभा-सोसाइटी, व्याख्यान या सेवा-समिति में मिलते हैं। ये सब प्रकार प्रत्येक देश की

सभ्यता और संस्कृति के अनुकूल होते हैं। हमारे यहां समाज की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता में भी बालक-बालिकाओं में स्वतंत्र प्रेम और एक दूसरे के प्रेमाकर्षण की इतनी लीला नहीं दिखाई जा सकती है जितनी कि पश्चिमी देशों के उपन्यासों में। हमारे देश की सामाजिक समस्याएं योरुप की सामाजिक समस्याओं से भिन्न हैं। भारतवर्ष में जो सम्मिलित कुटुम्ब की प्रथा है वह योरुप में नहीं है। इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल लेखक वर्णन का नया ढंग रख सकता है। नई समस्याओं के उपस्थित होने पर नये विषय मिल जाते हैं। आजकल जैसे अछूतों का विषय नये लेखकों के लिए बड़ा उपजाऊ क्षेत्र बन गया है। वेश्याओं का उद्धार (जैसे प्रेमचन्द के 'सेवा-सदन' में), पूंजीपति और मजदूर (यथा मैक्जिम गोर्की के, 'मदर' नामक उपन्यास में), राजा-प्रजा के सम्बन्ध (जैसे विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजरेबल्स' में), देश-विदेश की साहसपूर्ण यात्राएं (जैसे स्टीवेन्सन के 'ट्रेज़र आइलैंड' में) आदि विषय हिन्दी उपन्यासकारों की प्रतिभा को आकर्षित कर रहे हैं। बहुत-से वैज्ञानिक और राजनैतिक विषय भी अपनाये जा सकते हैं। योरुप में प्रेतवाद को लेकर भी बहुत-से उपन्यास लिखे गए हैं—मेरी कौरेली के उपन्यास 'दी माइटी एटम' में एक घोर नास्तिक का चित्र खींचा गया है, स्टीवेन्सन के 'डॉ० जैकेल एण्ड हाइड' में दुहरे व्यक्तित्व (Double personality) का उदाहरण उपस्थित किया गया है। श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा'

नाम के उपन्यास में एक विशेष आघात द्वारा पूर्व जन्म की स्मृति जाग्रत कराई गई है। विषय की नवीनता हो तो बहुत अच्छी बात है किन्तु वर्णन का ढंग अवश्य नवीन होना चाहिए। समीक्षक इसी मौलिकता को देखता है।

प्रेम का विषय बहुत विस्तृत अवश्य है और जीवन की एक मुख्य समस्या भी है किन्तु उसको छोड़कर भी संसार की बहुत सी और भी समस्याएं हैं। प्रेम में इतनी बात की विशेषता अवश्य है कि उसका संबंध गृहस्थाश्रम से है और उसमें हाथी के पैर की भांति जीवन की सब समस्याओं का समावेश होता है। जिस प्रकार मृत्यु जीवन का अन्त कर देती है उसी प्रकार विवाह जीवन की तैयारी है। सफल प्रेम में गृहस्थाश्रम की सफलता है। आजकल प्रेम का शाश्वत त्रिकोण (क ने ख को प्रेम किया और ख ने ग को तथा ग ने क को) ही उपन्यास का विषय नहीं रहा है। आजकल का जीवन बड़ा जटिल है, समस्याएं भी अनेक हैं, इसलिए मौलिकता के लिए बहुत गुंजाइश हो गई है। फ्रायड के प्रभाव से मनोविश्लेषण का बोलबाला हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में भी हो चुका है। इसके कारण उपन्यासकार के लिए एक नई तिलिस्मी कोठरी का द्वार खुल गया है। उपन्यासों में गांधीवाद और मार्क्सवाद के सापेक्षित महत्त्व का भी विवेचन उपस्थित किया जाने लगा है।

कौशल—कौशल से अभिप्राय कथावस्तु में संबंध-निर्वाह, उसकी उलझनों को सुलझाने की चतुरता है। कौशल से उपन्यास

में चमत्कार अवश्य आ जाता है किन्तु इसको उपन्यास या कथावस्तु का प्रधान अङ्ग नहीं कह सकते। इस प्रकार के कौतूहल की तृप्ति और पुष्टि तो अधिक होती है किन्तु भावतत्त्व अथवा रागात्मिका वृत्ति का बहुत कम पोषण होता है और न चरित्र-चित्रण के लिए ही कुछ सामग्री मिलती है।

कुछ उपन्यासों के कथानक सादे होते हैं और कुछ के पेचीदा। पेचीदा कथानकों के, विशेषकर उनके जिनमें कि एक से अधिक कथा समानान्तर रूप से चलती हैं, कौशल की बहुत आवश्यकता रहती है।

सम्भवता—सम्भवता कथानक का बहुत आवश्यक गुण है। सम्भव बात सुनने को कोई तैयार नहीं होता है। विरोध का आभास प्रिय होता है, किन्तु वास्तविक विरोध रस का घातक है। तिलिस्मी उपन्यासकारों को भी सम्भवता का ख्याल रखना पड़ता था। उपन्यास में सम्भव ही सत्य की कसौटी है। 'असम्भाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि दृश्यते' आज-कल योरुप के उपन्यासों में प्रेतवाद आता है वह भी इसी कारण कि प्रेमवाद की बहुत कुछ सम्भावना मनोवैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा प्रस्थापित हो गई है। इस युग में मनुष्य की बुद्धि का ही अधिक सहारा लिया जाता है, दैवी सहायता में लोग कम विश्वास रखते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि दैवी सहायता होती ही नहीं। दैवी सहायता होती है किन्तु मानवी साधनों द्वारा; इसलिए उपन्यासकार को मानवी साधनों से बाहर नहीं जाना चाहिए।

कथानक की उलझनों को बौद्धिक उपकरणों द्वारा सुलझाना वाञ्छनीय है क्योंकि इस प्रकार सुलझाई हुई उलझनों में मनुष्य का गौरव बढ़ता है और इन्हीं को लोग अधिक रुचि से पढ़ते हैं।

लेखक को अपना घटना-क्रम ऐसा रखना चाहिए जिससे कि जैसे-जैसे कथानक का विकास होता जाय वैसे-वैसे ही सब बातों की व्याख्या भी होती जाय। पाठकों के मन में चाहे नैतिक समस्याएं बनी रहें किन्तु इस बात की समस्या न रहे कि अमुक कार्य किसी पात्र ने क्यों किया। यह पहले ही बतला दिया गया है कि उपन्यास के पात्र जीवन के पात्रों से कुछ भिन्न होते हैं। जीवन के पात्रों की अपेक्षा उनके उद्देश्य और लक्ष्य अधिक स्पष्ट अवश्य रहते हैं, यदि नहीं होते हैं तो कर देने पड़ते हैं। उपन्यास के पात्र जब तक स्पष्ट रूप से पागल न दिखाये जायं तब तक वे अपनी प्रकृति के विरुद्ध काम नहीं करते। इसलिए उपन्यासकार को लोक और शास्त्र का व्यावहारिक ज्ञान आवश्यक है। अपने यहां देश-विरुद्ध और काल-विरुद्ध दूषण बतलाये गए हैं, वे कथा-साहित्य पर भी लागू हो सकते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में काल-दूषण (anachronism) का बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। सम्भावना के साथ औचित्य का भी पूरा ध्यान रखना आवश्यक हो जाता है। जाड़ों में तनजेब का कुर्ता और गर्मी में ओवरकोट पात्र की विक्षिप्तता और उससे बढ़कर लेखक की विक्षिप्तता का परिचय देगा।

उपन्यास में सत्य की कसौटी सम्भवता ही है। उपन्यास एक कला-कृति है। उसमें सत्य का सुन्दर रूप से प्रदर्शन किया जाता है। इस कारण उपन्यास घटनात्मक सत्य से नहीं बंधता किन्तु वह कोई ऐसी बात भी नहीं कहता जो सम्भव और घटनीय न हो। 'असम्भाव्यं न वक्तव्यं प्रत्यक्षमपि दृश्यते' उपन्यास की काल्पनिक घटनाएं भी वास्तविक घटनाओं की प्रतिच्छाया होती हैं। यही बात उपन्यास को दन्त-कथाओं से पृथक् करती है। परी-लोक की कथाओं (Fairy tales) में सम्भावना का प्रश्न नहीं उठता है। उनमे कल्पना ही वास्तविकता होती है किन्तु उपन्यास में कल्पना वास्तविकता का अनुसरण करती है।

संगठितता—उपन्यास एक कला-कृति है। यद्यपि जीवन का प्रवाह किसी कटे छटे ढांचे के अनुकूल नहीं है तथापि उपन्यास के कथानक में सगठन; क्रम और संगति का होना आवश्यक है। आजकल अंग्रेजी भाषा में कुछ उपन्यास ऐसे लिखे गए हैं कि जिनमें जीवन का व्यौरा पूरा-पूरा दिया गया है और वे पूरे जीवन की सिनेमा-रील से बन जाते हैं किन्तु वे नियम नहीं कहे जा सकते वरन् अपवाद ही माने जायंगे। अधिक व्यौरा देने के कारण आजकल के उपन्यास में समय का विस्तार संकुचित कर दिया जाता है अर्थात् उसका सम्बन्ध वर्षों की घटनाओं से नहीं वरन् एक या दो दिन का ही होता है (जेम्स जायस का 'उलीसस' नामक उपन्यास इसका उदाहरण है।

संगठन से अभिप्राय यह है कि न तो कोई आवश्यक बात छूटे और न कोई आवश्यक बात आय। इसके साथ यह भी वाञ्छनीय है कि घटनाएं कार्य-कारण-शृंखला में बंधकर क्रमागत रूप में दिखाई दें। कार्य-कारण-शृंखला में बंधना ही घटना-चक्र को कथावस्तु का रूप देता है। बहुत से कथानकों में दो कथाएं साथ-साथ चलती हैं अथवा अनेक घटनाओं का गुम्फन किया जाता है। कलाकार का कौशल इस बात में है कि वे सब घटनाएं एक दूसरे के साथ कार्य-कारण-शृंखला में बंधी हुई साथ-साथ चलें और टूटी हुई माला के दानों की भांति विच्छिन्न न दिखाई पड़ें। इस गुण की भी आजकल उपेक्षा होने लगी है। बहुत-से कथानकों में एकसूत्रता केवल इसी बात की रहती है कि वे एक ही पात्र से संबन्धित हैं ('अज्ञेय' जी का 'शेखर-एक जीवनी' नामक उपन्यास इसका उदाहरण है।)

संगठन के साथ ही क्रम और संगति का भी प्रश्न लगा हुआ है। हम घटनाओं को काल-क्रम अथवा स्थान-क्रम में ही ले सकते हैं। क्रम, वर्णन के सौष्ठव तथा कथानक के समझने के लिए और संगति, कथावस्तु की एकता और पात्रों के व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए आवश्यक है किंतु इन गुणों को सीमा के भीतर ही रहना चाहिये। संगठन, क्रम और संगति का आधिक्य कथावस्तु को कृत्रिमता का आभास देने लगता है। कथावस्तु में जीवन की-सी स्वच्छन्दता और स्वाभाविकता वाञ्छनीय है किन्तु इसको उच्छृंखलता की सीमा तक न ले

जाना चाहिए। यहां पर भी मध्यम मार्ग का अनुसरण करना श्रेयस्कर है।

रोचकता—रोचकता जीवन के लिए चाहे आवश्यक न हो किंतु उपन्यास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जीवन में ऊब पैदा करने वाली वस्तुओं से कभी-कभी भाग नहीं सकते हैं और न हमेशा जी ऊबाने वाली बातचीत को टाल सकते हैं किन्तु उपन्यास को हम बन्द करके रख सकते हैं। यदि उसकी अरोचकता की कुख्याति फैल जाय तो उसकी विक्री भी बन्द हो सकती है। रोचकता के लिए कौतूहल और नवीनता आवश्यक है। एक बार कौतूहल यदि शान्त हो गया तो उसका दुवारा जाग्रत करना कठिन हो जाता है। पुनरुक्ति तो आजकल लोग रामनाम की भी पसन्द नहीं करते हैं फिर कथानक की बात ही क्या है। क्षण-क्षण में नवीनता प्राप्त करते रहना सौंदर्य का व्यापक गुण है। नाविल शब्द का ही अर्थ है नवीन। उपन्यास में रोचकता बनाए रखने के लिए उपन्यासकार को चाहिए कि वह घटनाओं को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखता हुआ भी आकस्मिक और अप्रत्याशित को कथानक में स्थान दे। वह अप्रत्याशित ऐसा हो जो कार्य-कारण-श्रृंखला से बाहर न होता हुआ भी पाठक की कल्पना से बाहर हो। इसलिए उपन्यासकार को अपने पात्रों का परिचय क्रमागत रूप से कराना चाहिए। उसका कौशल इस बात में है कि वह ऐसी कोई बात तो छिपाये नहीं कि जिसके कारण घटनाओं के समझने में बाधा पड़े किन्तु

वह सब बात एक साथ भी न कह दे कि जिससे आगे जानने की उत्सुकता न रहे। पाठकों को जितना वह बतलावे इस ढंग से बतलावे कि उत्सुकता जाग्रत होती जाय। यद्यपि जीवन में बहुत-से आकस्मिक संयोग होते हैं और ठीक अवसर पर वाञ्छित व्यक्ति कहीं-न-कहीं से आ जाता है तथापि इस बात का सहारा लेकर उपन्यासकार को हर समय ऐसे संयोगों को न लाना चाहिए। उनके बाहुल्य से कृत्रिमता दिखाई देने लगती है। रोचकता के लिए न तो अधिक ब्यौरे की आवश्यकता है और न उसकी उपेक्षा की। वैचित्र्य में एकता का गुण शैली का ही प्राण नहीं है वरन् रचना-मात्र का जीवन-रस है।

कथानक के रूप—उपन्यास का कथानक कई प्रकार से लिखा जा सकता है—

(१) एक द्रष्टा द्वारा कही हुई कथा के रूप में, जैसे मुंशी प्रेमचन्दजी का 'सेवा-सदन', मुंशी प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विकास'।

(२) आत्म-कथा के रूप में, जैसे सियारामशरण का 'अन्तिम आकांक्षा' नामक उपन्यास।

(३) पत्रों के रूप में, जैसे उग्रजी का 'चन्द हसीनों के खतूत' और अनूप लाल मंडल का 'समाज की वेदी पर'।

आत्म-कथा के रूप में जो उपन्यास लिखे जाते हैं उनमें उपन्यासकार को अपनी ओर से कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रहती। इसमें एक गुण अवश्य आ जाता है, वह यह कि

कभी-कभी हमको उपन्यासकार की सर्वज्ञता पर जो सन्देह होने लगता है वह इसमें नहीं होता क्योंकि आत्मकथा-लेखक अपने विषय में तो सब-कुछ जानता ही है। अन्य व्यक्तियों के विषय में नायक उतना ही कहता है जितना कि साधारण मनुष्य जीवन में दूसरे व्यक्तियों के बारे में जानता है।

चरित्र-चित्रण

यदि उपन्यास का विषय मनुष्य है तो चरित्र-चित्रण उपन्यास का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व उसके चरित्र में है। चरित्र के ही कारण हम एक मनुष्य को दूसरे से पृथक् करते हैं। चरित्र द्वारा ही हम मनुष्य के आपे (Personality) को प्रकाश में लाते हैं। चरित्र में मनुष्य का बाहरी आपा और भीतरी आपा दोनों ही आ जाते हैं। बाहरी आपे में मनुष्य का आकार-प्रकार, वेश-भूषा, आचार-विचार, रहन-सहन, चाल-ढाल, बातचीत के विशेष ढंग (तकिया-कलाम; सम्बोधन आदि) और कार्य-कलाप भी आ जाता है। भीतरी आपा इन सब बातों से अनुमेय रहता है। पात्र के भीतरी आपे का चित्रण बाहरी आपे के चित्रण से कहीं अधिक कठिन होता है। उसमें उसकी बाहरी परिस्थितियों के प्रति संवेदनशीलता, उसके राग-विराग, उसकी महत्त्वाकांक्षाएं, उसके अन्ध-विश्वास, पक्षपात, मानसिक संघर्ष, दया, करुणा, उदारता आदि मानवी गुण अथवा नृशंसता, क्रूरता, अनुदारता

महत्त्व

चित्रण की विधियां

उपन्यासकार कई प्रकार से चरित्र-चित्रण कर सकता है, स्वयं अपनी ओर से पात्र का वर्णन करके अथवा पात्रों के भाषण या क्रिया-कलाप द्वारा। इन सभी विधियों द्वारा हम पात्रों का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। जहां उपन्यासकार स्वयं चरित्र पर प्रकाश डालता है, उस विधि को विश्लेषणात्मक (analytical) कहते हैं और जहां वह स्वयं नहीं करता है वरन् पात्रों द्वारा अथवा उसके वार्तालाप या क्रिया-कलाप से कराया जाता है उसे नाटकीय या अभिनयात्मक (Dramatic) कहते हैं।

नाटकों में चरित्र-चित्रण दूसरे ही प्रकार का होता है। उनमें नाटककार का व्यक्तित्व प्रकाश में नहीं आता है। वह अपनी ओर से कुछ नहीं कहता है वरन् जो कुछ उसे कहना होता है वह पात्रों द्वारा ही कहलाता है। कभी कभी पात्र अपने चरित्र का स्वयं भी विश्लेषण कर देता है। यह भी नाटकीय विधि कहलायगी। आजकल नाटकीय विधि का ही अधिक प्रचलन है। इस प्रकार के चित्रण में पात्रों के चरित्र के समझने और मूल्याङ्कन करने में पाठक की स्वतन्त्रता रहती है। नाटककार न तो सर्वज्ञ बनता है और न वह पाठकों पर अपना मत लादना चाहता है। उसके पात्र भी स्वतन्त्र रहते हैं और पाठक भी। विश्लेषणात्मक पद्धति कभी-कभी गुत्थियां सुलझाने में सहायक होती हैं किन्तु उसकी अतिशयता अच्छी नहीं। उपन्यासकार को बार-बार बीच में आजाने से एक तो कथा-प्रवाह में बाधा पड़ती

है और दूसरे पाठक भी कथा का आस्वाद स्वयं चर्वण करके नहीं ले पाते हैं। उनकी पाचन-शक्ति इतनी दुर्बल नहीं होती है कि उनको पूर्व पाचित खाद्य मिले। जिस प्रकार मनुष्य अपने साथियों का परिचय रहन-सहन से ही प्राप्त करना चाहते हैं वैसे ही उपन्यास-जगत् के पात्रों का भी परिचय उनके क्रिया-कलाप और वार्तालाप द्वारा ही प्राप्त करना चाहते हैं। चरित्र-चित्रण में वार्तालाप के साधन को सावधानी से काम में लाना चाहिए। वार्तालाप और कार्य ऐसे ही होना चाहिए जिनमें चरित्र की कुञ्जी निहित हो।

विश्लेषणात्मक विधि का उदाहरण—गोदान में मुंशी प्रेमचन्द जी, मिस्टर खन्ना और मिर्ज़ा ख़ुर्शेद के चरित्र के सम्बन्ध में अपनी राय इस प्रकार प्रकट करते हैं :—

"मिस्टर खन्ना भी साहसी आदमी थे, संग्राम में आगे बढ़ने वाले, दो बार जेल हो आये थे। किसी से दबना न जानते थे। खद्दर पहनते थे और फ्रांस की शराब पीते थे। अवसर पड़ने पर बड़ी-बड़ी तकलीफें झेल सकते थे.........मगर रण-क्षेत्र में जाने वाला रथ भी तो बिना तेल के नहीं चल सकता। उनके जीवन में रसिकता लाज़मी थी।"

"मिर्ज़ा ख़ुर्शेद के लिए भूत और भविष्य सादे काग़ज़ की भाँति थे। न भूत का पछताना था न भविष्य की चिन्ता। जो कुछ सामने आ जाता था उसमें जी-जान से लग जाते थे। मित्रों की मण्डली में वह विनोद के पुतले थे। कौंसिल में उनसे ज्यादा

उत्साही मेम्बर कोई न था..............गुस्सेवर भी ऐसे थे कि ताल ठोक कर सामने आ जाते थे। नम्रता के सामने दण्डवत् करते थे, लेकिन जहां किसी ने शान दिखाई और यह हाथ धोकर उसके पीछे पड़े। न अपना लेना याद रखते थे न दूसरे का देना। शौक था शायरी और शराब का..........।"

मिर्जा साहब के बाहरी आपे, आकार-प्रकार और रहन-सहन का इस प्रकार वर्णन किया है :—

"मिर्जा खुर्शेद गोरे-चिट्टे आदमी थे, भूरी-भूरी मूंछें, नीली आंखें, दुहरी देह, चांद के बाल सफाचट। छकेलिया अचकन और चूड़ीदार पाजामा पहनते थे। ऊपर से हैट लगा लेते थे। वोटिङ्ग के समय चौंक पड़ते थे और नेशनलिस्टों की तरफ से वोट देते थे। सूफ़ी मुसलमान थे। दो बार हज कर आये थे, लेकिन शराब खूब पीते थे।"

नाटकीय विधि का उदाहरण—इस प्रकार के चित्रण में दो प्रकार के उदाहरण मिलते हैं, पहले वे जिनमें कि पात्र स्वयं अपने चरित्र का परिचय दे देता है और दूसरे वे जिनमें पात्र किसी के विषय में अपना मत प्रकट कर उसका चरित्र-चित्रण करते हैं, दोनों ही प्रकार के उदाहरण 'गोदान' से यहां पर दिये जाते हैं।

(१) रायसाहब अपने बारे में कहते हैं :—

'मेरी ओर देखो, मैं उस रसिक समाज से बिलकुल बाहर हूं मिस्टर खन्ना। सच कहता हूं! मुझमें जितनी बुद्धि, जितना

बल है, वह इस इलाके के प्रबन्ध में ही खर्च हो जाता है। मेरे सारे भाई शराब-कबाब में मस्त थे। मैं अपने को रोक न सका। जेल गया और लाखों रुपये की जेरबारी उठाई, और अभी तक उसका तावान दे रहा हूं। मुझे उसका पछतावा नहीं है, बिलकुल नहीं। मुझे उसका गर्व है। मैं उस आदमी को आदमी नहीं समझता जो देश और समाज की भलाई के लिये उद्योग न करे, और बलिदान न करे। मुझे क्या यह अच्छा लगता है कि निर्जीव किसानों का खून चूस और अपने परिचय वालों की वासनाओं की तृप्ति के साधन जुटाऊं, मगर करूं क्या? जिस व्यवस्था में पला और जिया, उससे घृणा होने पर भी उसका मोह त्याग नहीं सकता।

(२) मेहता जी के चरित्र का कुछ आभास हमको राय-साहब और खन्ना जी के इस वार्तालाप से मिलता है :—

बोले—'यह मेहता कुछ अजीब आदमी है, मुझे तो कुछ बना हुआ-सा मालूम होता है।'

बोले—'मैं तो उन्हें केवल मनोरञ्जन की वस्तु समझता हूं। कभी उनसे बहस नहीं करता और करना भी चाहूं तो इतनी विद्या कहां से लाऊं? जिसने जीवन के क्षेत्र में कभी क़दम भी नहीं रखा वह अगर जीवन के विषय में कोई नया सिद्धांत अलापता है, तो मुझे उस पर हंसी आती है।'

'मैंने सुना है चरित्र का अच्छा नहीं है।'

'बेफिक्री में चरित्र अच्छा रह ही कैसे सकता है। समाज में रहो और समाज के कर्त्तव्यों और मर्यादाओं का पालन करो तब पता चले।'

कथावस्तु और पात्रों में किसी एक को महत्ता दी जाय या दोनों को एक दूसरे के ऊपर आश्रित रखा जाय, यह उपन्यास-कार के लिए महत्त्व का प्रश्न है। कथावस्तु का यदि पहले से निर्माण कर लिया जाता है तो उसमें पात्र स्वतन्त्र नहीं रहते हैं और यदि केवल पात्रों पर ही कथा का विकास छोड़ दिया जाता है तो उसमें संगठन और अन्विति का अभाव हो जाता है। इसमें एक दार्शनिक प्रश्न भी लगा हुआ है, वह यह कि सृष्टि का विकास हम पूर्व-निर्धारित मानते हैं अथवा स्वतन्त्र ? जो लोग कथावस्तु को मुख्यता देते हैं वे उन लोगों की भांति हैं जो सृष्टि के विकास को पूर्व-निर्धारित मानते हैं और जो लोग पात्रों को महत्ता देते हैं वे उन लोगों की भांति हैं जो सृष्टि के व्यक्तियों में संकल्प की स्वतंत्रता मानते हैं। सृष्टि-क्रम को पूर्व-निर्धारित मानने से व्यक्ति अन्यथा करने में असमर्थ हो जाता है। पूर्व-निर्धारित क्रम के अनुकूल कथा को चलाने में एक दोष यह भी आ जाता है कि कभी-कभी पात्रों को अपनी प्रकृति के प्रतिकूल कार्य करने पड़ते हैं। अंग्रेजी लेखकों तथा हिन्दी लेखकों ने भी उपन्यास के पात्रों द्वारा उपन्यासकार के प्रति विद्रोह कराया है। इस सम्बन्ध में श्री नगेन्द्रजी की 'विचार और अनुभूति' नामक नवीन कृति में 'वाणी के न्याय-

कथावस्तु और पात्र

मन्दिर' शीर्षक वार्तालाप में 'प्रेमाश्रम' के एक पात्र ज्ञानशङ्कर द्वारा वीणापाणि भगवती शारदा के न्याय-मन्दिर में प्रेमचन्द के प्रति कई अभियोग लगवाये गये हैं। उसका कुछ अंश यहां पर उद्धृत किया जाता है।

"उनका उद्देश्य यही रहा है कि स्वाभाविक या अस्वाभाविक रीति से मुझको नीचा दिखाया जाय। इसके लिए वे बराबर मेरे चरित्र की कालिमा को खूब गहरे रंग में लोगों के सम्मुख रखते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहता है कि इस प्रकार वे प्रायः परस्पर विरोधी बातें कर रहे हैं। इसलिए मेरे चरित्र-चित्रण में विरोधी तत्त्वों का अस्वाभाविक मिश्रण है"

'मेरा अन्तिम और सबसे बड़ा अभियोग यह है कि उन्होंने मुझे बरबस आत्म-हत्या के घृणित अभिशाप का भागी बनाया जो मेरे प्राणवान् व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल है। मेरे हृदय में जीवन के प्रति असीम अनुराग है। जीवन के उपयोग के लिए मेरे मन में सदैव अदम्य उत्साह रहा है। मैंने एक पुरुषार्थी की भांति जीवन की विषमताओं को पदाक्रान्त किया है। जीवन में एक बार भी मैंने उनके सम्मुख मस्तक नहीं झुकाया! बस इसी-लिए मेरे जन्मदाता ने मुझे जाकर गङ्गा में डुबो दिया क्योंकि मैं उनकी इच्छाओं का दास नहीं बन सका।"

ज्ञानशङ्कर की शिकायतों का सारांश यह है कि उसको प्रेम-चन्द जी की गांधीवादी नीति का शिकार बनना पड़ा है। 'प्रेमाश्रम' के तथाकथित नायक प्रेमशङ्कर के व्यक्तित्व को, जो

गांधीवादी आदर्श त्याग और अहिंसा का निर्जीव प्रतीक-मात्र है, ऊंचा दिखाने के लिए ज्ञानशङ्कर के व्यक्तित्व को काला कर दिया गया है। ज्ञानशङ्कर के अभियोगों द्वारा हम को चरित्र-चित्रण सम्बन्धी कई तथ्य मिलते हैं। उपन्यासकार को किसी पात्र विशेष के प्रति अनुचित मोह न दिखाना चाहिए, कम-से-कम इतना तो नहीं कि वह दूसरों के साथ अन्याय कर बैठे।

वास्तव में कथावस्तु को उपन्यासकार नहीं वरन् पात्र बनाते हैं। पात्रों को उपन्यासकार जन्म देता है। उपन्यासकार कथावस्तु द्वारा उन परिस्थितियों को उत्पन्न कर देता है जिनसे कि चरित्र प्रकाश में आये। परिस्थितियां भी आसमान से नहीं उतरतीं वरन् वे भी पात्रों के क्रिया-कलाप से उपस्थित होती हैं। अच्छे उपन्यास में कथानक की परिस्थितियों और पात्रों के व्यक्तित्व में आदान-प्रदान रहता है। वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। विकास-शील पात्र परिस्थितियों से अधिक प्रभावित होते हैं। स्थिर पात्र जहां-के-तहां बने रहते हैं। उपन्यासकार को चाहिए कि पात्रों की प्रकृति के अनुकूल उनको अपनी निजी प्रेरणाओं के अनुसार चलने दे। उनके व्यक्तित्व को कथानक के पूर्वनिर्दिष्ट फल के लिए नष्ट कर देना व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा। उनके चरित्र से जैसा कार्य विकसित हो सके उससे वैसा ही काम लेना चाहिए। उपन्यासकार चाहे जो कुछ हो किन्तु उसे इस बात को न भूलना चाहिए कि दुनिया में सब एक ही टायप के लोग नहीं होते हैं।

चरित्र-चित्रण में संगति का भी होना आवश्यक है। चरित्र को बिना कारण बदलना उचित नहीं है, उसका परिवर्तन उपन्यासकार की इच्छा पर न निर्भर रहकर परिस्थितियों पर निर्भर रहना वाञ्छनीय है। चरित्र को स्वयं अपने से संगत रहना चाहिए और परिस्थितियों और घटनाओं से भी। 'ग़बन' की घटनाएं रमा के चरित्र के ही फलस्वरूप उपस्थित हुई हैं। यद्यपि चरित्र जितना संकुल और पेचीदा होगा उतनी ही उसमें संगति कम होगी, तथापि संगति के नियम की उपेक्षा नहीं की जा सकती। असंगति में भी एक प्रकार की संगति रह सकती है।

अन्य आवश्यक गुण

चरित्र-चित्रण के गुणों में संगति के साथ सजीवता और स्वाभाविकता भी आवश्यक है। संगति इस सीमा तक न हो कि पात्र बिलकुल मशीन बन जाय। उसके कार्यों में विविधता होना ही उसे ऊब पैदा करने से सुरक्षित रखेगा; किन्तु जो कार्य हों वे चरित्र और परिस्थितियों के अनुकूल हों, इसी को स्वाभाविकता कहते हैं।

'गोदान' में मेहता का खान बनना कुछ अस्वाभाविक सा है। यद्यपि खान का दृश्य बड़ा सजीव है तथापि वह सजीवता उस पात्र के स्वभाव के कुछ विरुद्ध पड़ती है। फिर यह भी नहीं समझ में आता कि रोज़ के बैठने वाले आदमी की आवाज़ भी नहीं पहचानी गई।

कथोपकथन

कथोपकथन का सम्बन्ध कथावस्तु तथा पात्र दोनों से ही है। वार्तालाप प्रायः पात्रों के व्यक्तित्व के उद्घाटन और कथा-क्रम के विकास के लिए होता है। वार्तालाप में आवश्यक गुण भी चुनाव की आवश्यकता है। जो वार्तालाप कथानक को अग्रसर नहीं करता या चरित्र पर प्रकाश नहीं डालता वह चाहे जितना सजीव हो, उपयुक्त न होगा।

कथोपकथन परिस्थिति और पात्र के बौद्धिक विकास के अनुकूल होना चाहिए। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के कथोप-कथन पात्रानुकूल हैं, यहां तक कि यह गुण कहीं-कहीं दोष भी हो गया है और इस पर बख्शी जी जैसे आलोचक ने आपत्ति भी उठाई है कि यदि कोई पात्र चीनी हो तो क्या मुंशी प्रेमचंद जी चीनी में बुलवायंगे। वास्तव में भाषा का बदलना एक निश्चित सीमा के भीतर होता है। एक ही भाषा के भीतर बोलने वालों के बौद्धिक विकास के अनुकूल भी कई श्रेणियां हो सकती हैं। मुंशी प्रेमचन्द जी के पुलिस के पात्रों की उर्दू भी हिन्दी का ही रूप है। कुछ स्थलों में वह अवश्य दुःसह हो गई है। इसके विपरीत प्रसादजी के पात्रों की भाषा एकरस रहती है। 'कंकाल' के सभी पात्र संस्कृत-गर्भित भाषा बोलते हैं। वह उन पात्रों की भाषा नहीं है वरन् प्रसाद जी की भाषा है।

कथोपकथन की भाषा ही पात्रानुकूल नहीं होनी चाहिए वरन् उसका विषय भी पात्रों के मानसिक धरातल के अनुरूप होना वाञ्छनीय है। लेखक कभी-कभी अपने निजी सिद्धांतों के उद्घाटन और गूढ़ और विशेष ज्ञान के प्रदर्शन का मोह संवरण नहीं कर सकते। इन सिद्धांतों के उद्घाटन के लिए वैसे ही पात्रों की सृष्टि होनी चाहिए।

पात्रानुकूल वैचित्र्य के साथ ही उसमें स्वाभाविक सार्थकता, सजीवता और लाघव (संक्षिप्तता) के गुण होने वाञ्छनीय हैं।

वातावरण

कथानक को वास्तविकता का आभास देने के साधनों में वातावरण मुख्य है। कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्र की

आवश्यकता

भांति देश-काल के बन्धन में रहते हैं। यदि वे भगवान् की भांति देश-काल के बन्धनों से परे हों तो वे भी हम लोगों के लिए अभेद्य रहस्य बन जायगे, इसलिए देश-काल का भी वर्णन आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार बिना अंगूठी के नगीना शोभा नहीं देता उसी प्रकार बिना देश-काल के पात्रों का व्यक्तित्व भी स्पष्ट नहीं होता है और घटना-क्रम के समझने के लिए भी इसकी आवश्यकता होती है। आजकल बढ़ते हुए वस्तुवाद के समय में देश-काल का महत्त्व और भी बढ़ गया है। लेकिन देश-काल में वास्तविकता लाने के लिए स्थानीय ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

कलकत्ते की सड़कों का हम बिना कलकत्ता देखे, वर्णन नहीं कर सकते। ऐतिहासिक उपन्यासों में देश-काल का वर्णन विशेष रूप से आवश्यक होता है और प्राचीन काल को जैसा-का-तैसा अवतरित कर देना इतिहास और पुरातत्त्व के ज्ञान की अपेक्षा रखता है। श्री वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़कुंडार' में बुन्देलखण्ड का चित्रण वहां के इतिहास से सम्बन्धित होने के कारण पठनीय है। कुछ स्थान विशेष रूप से वीरता के उद्दीपक हैं तो कुछ भयानकता के। घटनाओं के उपस्थित होने पर स्थल का विशेष महत्त्व रहता है। स्टीवन्सन ने लिखा है कि 'कुछ अन्धकारमय उपवन हत्या का आवाहन करते प्रतीत होते हैं, कुछ पुराने मकान भूत-प्रेतों के अस्तित्व की मांग करते हैं और कुछ भयानक समुद्र-तट जहाजों के टकराने के लिए पहले से ही निर्धारित कर दिये गये हैं (Certain dark gardens cry aloud for murder, certain old houses demand to be haunted, certain coasts are set apart for shipwrecks.) जो वस्तु जहां की उपज नहीं है उसका वहां दिखाना अथवा जो प्रथा जिस काल में प्रचलित न थी उसका उस काल में चित्रित करना भारतीय समीक्षा-शास्त्र में क्रमशः देश और काल-विरुद्ध दूषण माने गये हैं। आगरा की सड़कों पर देवदारु के वृक्षों को दिखाना अथवा शिमला में लू चलने का वर्णन करना देश विरुद्ध दूषण होगा और अकबर के समय में उनके किसी मुसाहिब को टाई सम्भालते हुए दिखाना काल-विरुद्ध

दूषण होगा। श्री किशोरीलाल गोस्वामीजी के उपन्यासों के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी ने ऐतिहासिक ज्ञान की कमी दिखाते हुए लिखा है :—

"गोस्वामी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न-भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसन्धान नहीं सूचित होता। कहीं-कहीं तो काल-दोष तुरन्त ध्यान में आ जाते हैं—जैसे वहां जहां अकबर के सामने हुक्के या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है।"

देश-काल के चित्रण में सदा इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वह कथानक के स्पष्टीकरण का साधन ही रहे, स्वयं साध्य न बन जाय। जहां देश-काल का वर्णन अनुपात से बढ़ जाता है वहां उससे जी ऊबने लगता है। लोग जल्दी-जल्दी पन्ने पलटकर कथा-सूत्र को ढूंढ़ने लग जाते हैं। देश-काल का वर्णन कथानक को स्पष्टता देने के लिए होना चाहिए न कि उसकी गति में बाधा डालने के लिए।

देश-काल वातावरण का बाहरी रूप है। वातावरण मानसिक भी हो सकता है। आदमी जिस प्रकार के समाज में रहता है वैसा ही वह काम करने लग जाता है। प्राकृतिक चित्रण भी उद्दीपन रूप से पात्रों की मानसिक स्थिति या मूड (Mood) को निश्चित करने में सहायक होते हैं। प्रकृति और पात्रों की मानसिक स्थिति का सामंजस्य पाठक पर अच्छा प्रभाव डालता

है और उपन्यास में काव्यत्व भी ले आता है; जैसे किसी के मरते समय दीपक का बुझ जाना, सूर्य का अस्त हो जाना अथवा घड़ी का बन्द हो जाना वातावरण में अनुकूलता उत्पन्न कर शब्दों को एक विशेष शक्ति प्रदान कर देता है। इस सम्बन्ध में मुंशी प्रेमचन्द जी की 'निर्मला' से यहां एक उदाहरण दिया जाता है:—

"उसी समय जब पशु-पक्षी अपने-अपने बसेरे को लौट रहे थे, निर्मला का प्राण-पक्षी भी दिन-भर शिकारियों के निशानों, शिकारी चिड़ियों के पजों और वायु के प्रचंड झोंकों से आहत और व्यथित अपने बसेरे की ओर उड़ गया।"

जिस प्रकार अनुकूलता प्रभाव को बढ़ाती है उसी प्रकार कभी-कभी प्रतिकूलता भी प्रभाव को तीव्रता प्रदान करती है, जैसे 'इधर सूर्य का उदय हो रहा था उधर उसकी जीवन-प्रभा विलीन हो रही थी।' किन्तु आजकल इन साधनों से कम काम लिया जाता है। उपन्यासकार अनुकूल या प्रतिकूल वातावरण उपस्थित कर देता है, अपनी ओर से कुछ कहता नहीं।

विचार और उद्देश्य

उपन्यास कहानी-मात्र नहीं है, उसमें पात्रों के भाव और विचार भी रहते हैं। उपन्यास के पात्रों के विचार लेखक के ही विचारों की प्रतिध्वनि होते हैं। लेखक का जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण होता है, उसी दृष्टिकोण से वह जीवन की

व्याख्या करता है और उसी के अनुकूल उसके विचार होते हैं। उपन्यास में बिखरे हुए विचारों में भी एक विशेष अन्विति रहती है। विचारों के विभिन्न पक्ष दिखाये जाते हैं किन्तु उनमें मुख्यता उन विचारों की ही होती है जो लेखक के दृष्टिकोण के अनुकूल होते हैं। कभी-कभी लेखक का उद्देश्य जानना कठिन हो जाता है। विचारों में प्रायः लेखक और नायक का तादात्म्य होता है। यह बात नाटक और महाकाव्य में भी होती है। रामायण में जितने विचार हैं वे सब तुलसीदास के सिर नहीं मढे जा सकते ('ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी') ये समुद्र के दीनता में कहे हुए वचन हैं, गोस्वामी जी के सिद्धान्त-वचन नहीं हैं। किन्तु रामचन्द्र जी अथवा वशिष्ठ जी द्वारा कही हुई बातों के साथ हम गोस्वामी जी का तादात्म्य कर सकते हैं। उपन्यास के पात्रों के चरित्र-चित्रण की भांति उद्देश्य-निरूपण के भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक सीधा या विश्लेषणात्मक जिसमें कि लेखक अपने दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या स्वय करता है और दूसरा सव्यवधान या नाटकीय जिसमें वह जीवन की झांकी मात्र ही देता है। उसके कुछ विचार तो पात्रों द्वारा व्यक्त किये जाते हैं और कुछ जीवन संबधी घटनाओं के प्रस्थापन में तथा कथा के परिणाम में व्यंजित रहते हैं। उपन्यास केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है वरन् उसके द्वारा मनुष्य के जीवन-विज्ञान के तथ्यों को समझने का प्रयत्न किया जाता है। जीवन के ये तथ्य सूत्ररूप से यत्र-तत्र बिखरे

सकते हैं। (प्रेम केवल हृदयों को मिलाता है, देह पर उसका वश नहीं—प्रेमाश्रम। 'अनुराग स्फूर्ति का भण्डार है'—ग़बन कायरता भी वीरता की भांति संक्रामक होती है'—कर्मभूमि। 'निराशा में प्रतीक्षा अन्धे की लाठी है'। ऐसी सूक्तियां मुंशी जी के सभी उपन्यासों में बिखरी पड़ी हैं। गोदान में भी इस प्रकार की सूक्तियां प्राचुर्य के साथ मिलती हैं—'डरपोक प्राणियों में सत्य भी गूंगा हो जाता है।' परीक्षण गुणों को अवगुण, सुन्दर को असुन्दर बनाने वाली चीज़ है, प्रेम अवगुण को गुण बनाता है और असुन्दर को सुन्दर।" कभी-कभी ये तथ्य व्यक्त न हो कर कथानक में व्यंजित ही रहते हैं।

उपन्यास में ऐसे जीवन सम्बन्धी तथ्यों का रहना नितान्त अनिवार्य तो नहीं है (क्योंकि आजकल बहुत-से उपन्यासकार किसी नीति का उद्घाटन न कर मनुष्य का विश्लेषण मात्र करते हैं। इस विश्लेषण में नीतिकार के लिए सामग्री अवश्य रहती है) किन्तु लोग प्रायः यह चाहते हैं कि उनको कुछ स्थायी विचार मिलें। इन विचारों के प्रकाशन में उपन्यासकार को बड़े कौशल से काम लेना पड़ता है। कथाकार का पद त्याग कर उपन्यासकार जब स्वयं कुछ कह सकने के विशेषाधिकार का दुरुपयोग करने लगता है और वह उपदेशक का पद ग्रहण कर लेता है तभी वह आलोचना का विषय बन जाता है। आचार्य शुक्ल जी ने प्रेमचन्द के संबंध में यही आक्षेप किया है कि वे उपन्यासकार से उपदेशक बन जाते हैं। उपन्यास के कथानक चौखटे में जड़ा हुआ

निबन्ध या व्याख्यान उपन्यास नहीं बन जायगा, वह निबन्ध या व्याख्यान ही रहेगा। यद्यपि अब लोग उपन्यासों को विचार धारा के प्रकाशन का माध्यम बनाते जाते हैं (जैसे यशपाल, नरोत्तम नागर, अंचल, राहुल सांकृत्यायन आदि लेखक उपन्यासों द्वारा गांधीवादी विचार-धारा के विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं) तथापि उपन्यास में विचार और उपदेश एक सीमा के भीतर ही समाविष्ट हो सकते हैं। जिस प्रकार प्रगति-काव्य में कथानक एक सीमा के भीतर ही रहता है इसी प्रकार उपन्यास के कथानक में विचार और भाव की मात्रा एक मर्यादा के भीतर रहनी चाहिए। लोग इस सिद्धान्त का अतिक्रमण करें तो उनका उत्तरदायित्व है। प्रसाद जी ने 'कंकाल' में अपने पात्रों द्वारा गम्भीर ऐतिहासिक समस्याओं पर विचार कराकर अपने इतिहास-प्रेम का अवश्य परिचय दिया है किन्तु उन पात्रों पर एक भारी बोझ लद गया है। उपन्यासकार का काम 'थीसिस' लिखना नहीं है किन्तु वह अपने विचारों के प्रवाह से बच भी नहीं सकता। इसमें उसको औचित्य और मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए।

हम लोग उद्देश्य के साथ निरुद्देश्यता को भी महत्त्व देते हैं किन्तु तभी जब उसमें शैली का महत्त्व हो या बीच-बीच में कुछ व्यंग्य हों, केवल कौतूहल की तृप्ति या मनोरंजन खोखलापन है। उद्देश्य के सम्बन्ध में मुंशी प्रेमचन्द जी इस प्रकार लिखते हैं—

"हमारा ख्याल है कि क्यों न कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करे जिसमें मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का संघर्ष निभता रहे। कला के लिए कला का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भांति-भांति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों से जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है उधर दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखलाई देते हैं, विपत्ति का करुण-क्रन्दन सुनाई देता है तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।"

उपन्यासकार को इसका अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उसके विचार परोक्ष रूप से ही व्यञ्जित हों जिससे कि उपन्यास की स्वाभाविकता में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े। ऐसा करने से उसका उपन्यास नीरस हो जायगा। उपन्यासकार को जीवन-मीमांसा करते हुए या नीति का प्रचार करते हुए यह न भूलना चाहिए कि वह कलाकार है और कला का उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि है। वह सत्य और शिव का उपासक अवश्य है किन्तु उसकी उपासना सुन्दर के रूप में करता है। धार्मिक या नीतिकार अप्रिय सत्य भी कह सकता है किन्तु कलाकार सदा 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्' का ध्यान रखता है। कलाकार का उपदेश कान्ता का सा मधुर तथा प्रेमपूर्ण होता है। जो लोग यह कहते हैं कि उपन्यास में नीति की आवश्यकता नहीं, यदि हमको नीति की चाह है तो कोई नीति-ग्रन्थ ही क्यों न पढ़ें उनको यह ध्यान

रखना चाहिए कि नीति-ग्रन्थ में कोरी नीति रहती है और उपन्यास में काव्य-ग्रन्थों की भांति वह नीति रस के मधुरावेष्टन द्वारा शर्करावेष्टित कुनीन की गोलियों की भांति ग्राह्य बना दी जाती है।

सामयिक और शाश्वत समस्याएं

उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह है कि उपन्यासकार सामयिक समस्याओं (मिल-मालिक और मजदूर, अछूतोद्धार, दहेज-प्रथा, ग्राम-सुधार आदि) का ही उद्घाटन करे अथवा शाश्वत समस्याओं (पति-पत्नी सम्बन्ध, सन्तान अथवा दाम्पत्य और वात्सल्य का संघर्ष जैसा कि टाल्स्टाय के 'आना कार्नीना' नाम के उपन्यास में है) को ही अपनावे। कुछ समीक्षकों का ऐसा विचार है कि उपन्यासों में सामयिक समस्याओं को न रखना चाहिए क्योंकि उन समस्याओं के समाप्त हो जाने पर उनके सम्बन्ध में लोक-रुचि भी समाप्त हो जाती है। गुलामी प्रथा अब उठ जाने से 'अन्किल टॉम्स केबिन' जिसका हिन्दी अनुवाद 'टाम काका की कुटिया' के नाम से हुआ है अब कम पढ़ी जाती है। इसी प्रकार 'दहेज-प्रथा' सम्बन्धी उपन्यासों का भी चलन कम हो रहा है। इस सम्बन्ध में हमारा यह मत है कि सामयिक समस्याए भी शाश्वत समस्याओं के बदलते हुए रूप हैं। अछूतोद्धार, विधवा-विवाह अथवा दहेज-प्रथा आदि का विवेचन व्यापक मानवता का ही रूप है। उपन्यासकार को यह उचित नहीं है कि वह केवल इसलिए कि सामयिक

समस्याओं में लोकरुचि चिरस्थायी नहीं होती है, समाज को अपनी सेवाओं से वञ्चित रखे। उसको चाहिए कि सामयिक समस्याओं को चिरन्तन और शाश्वत से सम्बन्धित कर दे।

आजकल पाठकगण उपन्यासकार से यह आशा रखते हैं कि वह न केवल समस्याओं का उद्घाटन ही करे वरन् उनकी तह में बैठकर सामाजिक रोगों का निदान कर उनके शमन का मार्ग भी निर्दिष्ट करे। यह सर्वथा सम्भव नहीं है कि उपन्यासकार समस्याओं का हल भी दे सके। बहुत से हल जो उपस्थित किए जाते हैं वे केवल आदर्शवाद से सम्बन्ध रखते हैं (जैसे सेवा-सदन में); उनमें वास्तविक जीवन की कठिनाइयों का ध्यान नहीं रखा जाता। कठिनाइयों को स्वीकार करते हुए उनका उद्घाटन कर देना भी लोगों को उनके हल में सहायता देना है। कठिनाइयों का सहानुभूतिपूर्ण ज्ञान उनके शमन की ओर अग्रसर होना है। मुंशी प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में किसानों की समस्या का कोई हल नहीं बतलाया है किन्तु उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर दी है। उन्होंने झोंपड़ियों में रहने वालों को महलों के स्वप्न दिखाये हैं।

उपन्यासकार के लिए यह समस्या बड़ी ही जटिल है कि वह जीवन की व्याख्या के लिए जीवन की बिलकुल प्रतिलिपि कर दे अथवा उसका कुछ सुधरा हुआ रूप दे। जीवन के ज्यों-के-त्यों अर्थात् बिना कल्पना का रङ्ग चढ़ाये हुए यथातथ्य चित्रण को यथार्थवाद कहते हैं और अपनी कल्पना के आधार पर

यथार्थ और आदर्श

उसका सुधरा हुआ रूप उपस्थित करने को आदर्शवाद कहते हैं। यथार्थवाद और आदर्शवाद की कई श्रेणियां हैं और इन वादों का दुरुपयोग भी पर्याप्त होता है। यथार्थवाद की अच्छाई-बुराई उसकी मात्रा तथा लेखक के उद्देश्य पर आश्रित रहती है। जीवन का धूप-छांह जैसा ताना-बाना, पाप-पुण्य, गुण-दोष के तन्तुओं से मिला हुआ है। वास्तविक यथार्थवाद तो गुण और दोषों को उचित अनुपात में दिखाना है किन्तु प्रायः लोग यथार्थ-वाद के नाम पर मनुष्य की बुराइयों और दुर्बलताओं का उद्‌घाटन करते हैं। इसमें भी यदि बुराइयों का उद्‌घाटन इसलिए किया जाता है कि उनके प्रति ध्यान आकर्षित कर लोगों को सुधार की ओर प्रवृत्त किया जाय तब तो वह क्षम्य हो जाता है, किन्तु जब बुराइयों का उद्‌घाटन लोगों की कुरुचि से लाभ उठाने अथवा उसके आधार पर उपन्यास की बिक्री बढ़ाने अथवा मानव-समाज से अपना बदला लेने के लिए किया जाता है तब वह निन्द्य हो जाता है। लोग प्रायः सुधारक के नाते ही मानव दुर्बलताओं का उद्घाटन करते हैं किन्तु वास्तव में उनका उद्देश्य कुरुचि का पोषण होता है, ऐसा यथार्थवाद निन्दनीय है। इसके अतिरिक्त यथार्थवाद में दो दोष और भी हैं। एक तो यह कि जब लोग बुराई को फलते-फूलते और साधुता को दुःख उठाते देखते हैं तब हम एक प्रकार से निराशावादी हो जाते हैं और उद्योग, उत्साह और सदाचार के लिए आकर्षण कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वयं जीवन में यथार्थवाद एवं दुःख और

संघर्ष की मात्रा इतनी बढ़ी-चढ़ी होती है कि हम साहित्य में उसकी पुनरावृत्ति देखकर अपने मन को भाराक्रान्त नहीं करना चाहते हैं। आदर्शवाद ऊबे हुए जीवन के लिए एक सुखद वैभिन्य उत्पन्न कर देता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम पलायनवादी बन जायं। इस प्रकार कुरुचिपूर्ण यथार्थवाद के पनपने का कारण यही है कि लोग बुराइयों का सहज में विश्वास कर लेते हैं, भलाइयों के विश्वास करने में वे थोड़े संशयात्मक रहते हैं।

कोई उपन्यासकार शुद्ध यथार्थवादी नहीं हो सकता। पूरे जीवन या जीवन के साल या दो साल के पूरे चित्रण में पाठक को उतना ही समय लग जायगा जितने काल में कि घटनाएं घटित हुई हैं। चुनाव कला के लिए आवश्यक है। लेखक यदि उज्ज्वल पक्ष को चुनता है तब वह आदर्शवादी कहलाने लगता है और जब वह अन्धकारमय पक्ष की ओर अधिक ध्यान देता है तब वह यथार्थवादी गिना जाता है। कला में 'जो है' वह उसके साथ 'होना चाहिए' का भी प्रश्न रहता है। यदि हम 'जो है' उसी का चित्रण करते हैं तो साहित्य से जीवन को कोई दिशा नहीं मिलती है।

कविवर मैथिलीशरण जी ने 'साकेत' में ठीक ही कहा है—

"हो रहा है जो यहां, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?
किन्तु होना चाहिये कब क्या, कहां,

व्यक्त करती है कला ही यह यहां।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही,
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।
वह तुम्हारे और तुम उसके लिये;
चाहिये पारस्परिकता ही प्रिये।"

आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों की ही सीमाएं हैं, यथार्थवाद को ऊब और अकर्मण्यता से बचाना चाहिए। साहित्य में शालीनता का परित्याग करना आत्म हत्या है। कुछ लोग यह अवश्य कहेंगे कि जब वास्तविक जीवन ही गिरा हुआ है तब साहित्य में शालीनता कहां से आयगी? किन्तु जीवन में सब-कुछ बुरा-ही-बुरा नहीं है और न सब कुछ अच्छा-ही-अच्छा है। इसलिए आदर्शवाद को भी अतिवाद के दोष से बचाने की आवश्यकता है। इस संबन्ध में उपन्यास-सम्राट् मुंशी प्रेमचंद जी के नीचे लिखे अमर वाक्य स्मरणीय हैं—

"यथार्थवाद यदि हमारी आंखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुंचा देता है। लेकिन जहां आदर्शवाद में यह गुण है वहां इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति-मात्र हों, जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है, लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करना मुश्किल है।"

"इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं जहां यथार्थवाद और आदर्शवाद का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठकों को मोहित कर ले। जिस उपन्यास में यह गुण नहीं है वह दो कौड़ी का है।"

सारांश यह है कि उपन्यास की आधार-भूमि यथार्थ की होनी चाहिए। उस यथार्थ को आकर्षक बनाने के लिए थोड़े चुनाव की आवश्यकता है। चुनाव में यह ध्यान देने योग्य बात है कि उपन्यासकार बुराइयों का केवल उद्घाटन कर पाठकों की मानव-समाज से आस्था न उठा दे और घृणा का प्रचारक न बन जाय। उपन्यासकार को चाहिए कि वह यथार्थवाद के भीतर छिपे हुए आदर्श का उद्घाटन कर लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित करे। इस प्रकार वह उसके द्वारा मानव-समाज के विकास-क्रम में सहायक बन सकता है। हमारे आदर्श संभावना की सीमा से बाहर न आने पायं, नहीं तो उनसे कोई लाभ न उठा सकेगा। इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना ही यथार्थवाद की देन है।

पाश्चात्य देशों में उद्देश्य को अधिक महत्त्व दिया गया है किन्तु हमारे देश में रस को प्रधानता दी गई है। हमारे उपन्यास भी काव्य ही की कोटि में आते हैं।

भाव और रस

इसलिए उनमें भी काव्य के से रस और भाव को स्वीकार करने के विचार का तिरस्कार नहीं होता है। हमारे विचार भी हमारे जीवन के प्रति रागात्मक या विरागात्मक दृष्टिकोण के ही फल-फूल होते हैं। विचारों के मूल में भी भाव ही रहते हैं अर्थात् वे प्रायः भाव-प्रेरित होते हैं। काव्यों में चाहे वे महाकाव्य की भांति पद्यात्मक हों या उपन्यास की भांति गद्यात्मक हों विचार-सिकता के कण-रस के सहारे ही ग्राह्य बनाये जा सकते हैं। उपन्यासों में भी महाकाव्य का सा शृङ्गार, वीर, हास्य, करुण का समावेश होता है। प्रारम्भिक काल के कौतूहल-वर्धक जासूसी और तिलिस्मी उपन्यासों में अद्भुत रस का प्राधान्य था। आजकल के राजनीतिक उपन्यासों में करुण के साथ वीर का सम्मिश्रण रहता है। वर्तमान समाज की करुणाजनक परिस्थिति दिखलाकर उसको मिटाने के लिए उत्साह का सञ्चार किया जाता है। करुण में वीर का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है—'आय गये हनूमान, ज्यों करुणा में वीर रस'। कभी-कभी उपन्यासों में पूंजीवाद वा साम्राज्यवाद के प्रति घृणा भी उत्पन्न की जाती है। वहां वीभत्स की मात्रा सीमित ही होनी चाहिए, शालीनता को छोड़े और घृणा के उत्पन्न किए बिना भी बात को बलपूर्वक कहा जा सकता है। उपन्यासों में

मनोभावों में चित्रण रहता ही है। 'ग़बन' में रमाकान्त के कलकत्ते जाते समय भय की मनोवृत्ति का अच्छा चित्रण हुआ है। 'गोदान' में बनावटी 'खान' के आ जाने पर शहरी लोगों की कायरता की तुलना में होरी का साहस और उत्साह निखर आता है। 'रंगभूमि' में सूरदास का वीरोत्साह सराहनीय है। थोड़ी बहुत भावुकता के बिना वाणी में बल नहीं आता है किन्तु करुणा को केवल सहानुभूति जाग्रत करने के लिए प्रलाप की सीमा तक पहुंचा देना सस्ती भावुकता कही जायगी। उपन्यास को इस सस्ती भावुकता से बचाना वाञ्छनीय है। संयम और नियंत्रण कला का जीवन-प्राण है। उपन्यास को उस संयम से वञ्चित न रहना चाहिए।

शैली

उपन्यास कथा-साहित्य का मुख्य अङ्ग है। इसकी वस्तुगत विशेषताओं और आवश्यकताओं पर प्रकाश डाला जा चुका है।

आवश्यकता

खाद्य सामग्री चाहे जितनी ही मूल्यवान क्यों न हो किन्तु जब तक उसको सजा-सम्भाल कर न रखा जायगा वह ग्राह्य न होगी। काव्य में शैली का वही स्थान है जो मनुष्य में उसकी आकृति और वेश-भूषा का है। यद्यपि यह हमेशा ठीक नहीं कि जहां सुन्दर आकृति हो वहां सुन्दर गुण भी होते हैं तथापि आकृति और वेश-भूषा गुणों के मूल्याङ्कन में बहुत-कुछ प्रभावित करते हैं। यद्यपि हम विष-भरे कनक-घटों के पक्ष में नहीं हैं तथापि दूध को भी स्वच्छ

और उज्ज्वल पात्रों की अपेक्षा रहती है। चित्त का प्रसादन जितना कथा की मौलिकता और रोचकता से होता है उतना ही शैली से। पद-पद पर प्रसन्नता प्रदान करना और उत्सुकता को कायम रखना जो कथा-वस्तु की आवश्यकताओं में से है बहुत-कुछ शैली पर निर्भर रहता है। कथा-वस्तु के और भी गुण—जैसे संगठन, क्रम, संगति आदि शैली के आन्तरिक पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं।

यद्यपि उपन्यास नाटक की अपेक्षा कक्ष के अध्ययन की वस्तु अधिक है और उसमें गाम्भीर्य का बहिष्कार भी नहीं है तथापि वह जन-मन-रञ्जन की वस्तु अधिक है। उसके गुण द्वारा सामाजिक और ऐतिहासिक तथ्य सहज में जनता के लिए बोधगम्य बनाये जा सकते हैं। इसलिए प्रसाद गुण इसका मुख्य गुण होना चाहिए और ओज और माधुर्य का विषयानुकूल यथास्थान समावेश होना अपेक्षित है। भाषा को सुबोध और प्रसादमय बनाने के लिए मुहावरों का प्रयोग वाञ्छनीय है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार उचित मात्रा में शैली को आकर्षक बनाने में सहायक होता है किन्तु इनके प्रयोग में मौलिकता अपेक्षित रहती है। इनके द्वारा सफल व्यंग्य भी हो सकता है। कविता के बराबर तो उपन्यास में लक्षण-व्यञ्जना का महत्त्व नहीं है फिर भी काव्य के ये प्रसाधन उपन्यास में उपेक्षा-योग्य नहीं। ये सब काव्य के पारिवारिक गुण तो उपन्यास में आवश्यक हैं ही किन्तु कौतूहलपूर्ण प्रकथन जो

कथा-साहित्य की विशेषता है इसका भी विशेष गुण है। कल्पना को सत्य का रूप देना उपन्यास की मुख्य कला है। उपन्यास की भाषा की कई शैलियां हैं किन्तु उनमें दो मुख्य हैं। एक प्रेमचन्द जी जैसी चलती शैली और दूसरी प्रसाद और हृदयेश जी जैसी संस्कृतगर्भित शैली। उपन्यास में व्यास शैली के लिए अधिक गुंजाइश है। नाटक और कहानी दोनों ही से अधिक इसमें फैलाव की क्षमता है किन्तु उसको सीमा से बाहर न जाना चाहिए।

विशेष—उपन्यास-साहित्य के वर्तमान विकास ने इन तत्त्वों की परम्परा को बहुत अंश में निरर्थक-सा कर दिया है। अब न तो कथानक में व्यवस्था और शृङ्खला का पहला-सा मान रहा है और न चरित्र-चित्रण में संगति और सम्बद्धता का आग्रह है। मनुष्य क्षणिक मनोदशाओं (Moods) का समूह-सा दिखाई देता है और अवचेतना का द्वार खुल जाने से मानसिक जीवन और भी संकुल हो गया है। वह व्यवस्था में अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है। यह विधा नितान्त नियमहीन तो नहीं है किन्तु एक गतिशील वस्तु को नियमों में बांधना कठिन है। पिछले नियमों और तत्त्वों में बहुत-कुछ सार है। विद्यार्थियों को उनका जानना आवश्यक है किन्तु उन सबको पत्थर की लकीर समझ लेना या उनके आंशिक अभाव के कारण किसी कलाकृति को निन्द्य ठहरा लेना कलाकार के साथ अन्याय होगा। नये कलाकारों को सहृदयतापूर्वक समझने की आवश्यकता है।

: ६ :

रंगमंच

जिस प्रकार शिशु अपने दोनों हाथ फैलाकर चन्द्र-खिलौना मांगता है, असम्भव घटनाओं के अस्तित्व के लिए हठ करता है, उसी प्रकार नाट्यशाला में बैठी हुई जनता मंच से एक असम्भव सुख लूटना चाहती है, पात्रों से अनुचित और कठिन अभिनय मांगती है। इसमें सन्देह नहीं कि पात्रों का अभिनय जनता की रुचि के अनुसार होना चाहिए; किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जनता की गिरी हुई आकांक्षाओं और साधारण रुचि के अनुसार ही पात्रों का अभिनय हो। पात्रों में कला की उत्कृष्टता हो सकती है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि जनता उस उत्कृष्ट कला के रूप की उत्कृष्ट रूप से प्रशंसा अथवा सराहना कर सकेगी अथवा नहीं। जिस समय विविध विचारों में डूबी हुई, कला के रूप की विभिन्न कल्पनाएं करती हुई, जनता नाट्यशाला में प्रवेश करती है, उस समय सञ्चालकों को इस बात का डर सदैव ही बना रहता है कि उनका नाटक दर्शकों द्वारा प्रशंसित होगा अथवा नहीं। उस समय वे जनता की रुचि को पहचानना चाहते हैं। यदि उनकी कला दर्शकों को

पसंद आ गई तब तो उनकी सोने की थैली का वजन बढ़ जाता है अन्यथा धन-व्यय करने पर भी उनके सिर गालियों का बोझ पड़ता है। ऐसी स्थिति में नाटककार और संचालक दर्शकों की रुचि के पीछे ऐसे दौड़ते हैं जैसे एक रंगीन तितली के पीछे उत्सुक और भोले बालक। यदि उन्हें यह ज्ञान हो जाय कि जनता के हृदय की मांग क्या है तो नाट्यशालाओं की संख्या अमावस की रात के तारों की भांति बढ़ जाय। लोग चाहते क्या हैं यही समझना तो कठिन प्रश्न है। रस्किन ने एक स्थान पर लिखा है कि जनता एक बच्चे के समान है। जिस प्रकार एक शिशु अपने विचारों के इन्द्र-धनुष में विविध भावनाओं का रंग भरा करता है और कुछ क्षणों के बाद उसे मिटा देता है, उसी प्रकार जनता किसी समय एक प्रकार के विचारों में पूर्ण रूप से संलग्न होकर उसी विचार को इन्द्र-धनुप के समान मिटा देती है। जो चीज एक समय उसे प्रिय थी वही दूसरे समय उसे अप्रिय हो जाती है। ऐसी स्थिति में नाटक के संचालक बेचारे क्या करें! जो नाट्य-सामग्री एक बार दर्शकों के हृदय में विप्लव मचा चुकी थी वही सामग्री कुछ दिनों के बाद धूल में फेंक दी जाती है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम तो शिशु के समान जनता की अपरिमार्जित बुद्धि और द्वितीय जनता की धार्मिक प्रवृत्ति।

भारतीय नाटक का जन्म धर्म की गोद में हुआ था। उसी के सहारे नाटक में जीवन की शक्तियां आईं और उसी ने उसका

अस्तित्व संसार में रहने दिया। ग्रीस के सुखान्त नाटक जिस प्रकार डायोनीसस की पूजा के रूप से प्रारम्भ हुए उसी प्रकार भारतीय नाटक का भी धर्म से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। भारतीय नाटक और मंच की उत्पत्ति के विषय में ई० पी० हारविज़-रचित "दि इंडियन थियेटर" में लिखा है—"एक बार सभी देवता मिलकर ब्रह्मा के पास गए और उन्होंने उनसे अपने मनोरंजन की सामग्री मांगी। ब्रह्मा ने ऋक् से नृत्य, साम से गान, यजुर से अभिनय और अथर्व से भाव लेकर एक नाट्यवेद की रचना की। पहला रंगमंच बनाने के लिए विश्वकर्मा बुलाया गया और उसने इन्द्र-भवन में एक विशाल मंच का निर्माण किया। उस मंच के ऊपर प्रथम बार इन्द्र-ध्वज त्यौहार के अवसर पर समवकार के रूप में अमृत-मंथन का अभिनय किया गया, उसके बाद डिम के रूप में त्रिपुर-दाह का। नाटक में अपने पुत्र और शिष्यों के साथ भरतमुनि ने तथा गन्धर्व और अप्स-राओं ने अभिनय किया था। राजा नहुष ने पहली बार पृथ्वी पर रंगमंच की स्थापना की थी और अभिनय कराने के लिए उन्होंने स्वर्गीय देवांगनाओं, अप्सराओं और गन्धर्वों को पृथ्वी पर आने के लिए बाध्य किया था। यह बात कहां तक सत्य अथवा असत्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु हमारे पूर्व ग्रन्थों के इस वर्णन से ही तीन बातें निष्कर्ष के रूप में मिलती हैं:—

(१) नाटक के तत्त्व हमारे वेदों में वर्तमान थे।

(२) धार्मिक अवसर पर ही हमारे यहां नाटकों के अभिनय हुआ करते थे।

(३) स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लिया करते थे, क्योंकि उस समय नाटक एक धार्मिक संस्था के रूप में माने जाते थे।

नाटक की इस परम्परागत कथा ने ही भारतीयों के हृदय में धर्म और नाटक का ऐसा एकीकरण कर दिया कि सारी जनता के हृदय में नाटकों में धर्मतत्त्व देखने की उत्कंठा-सी उत्पन्न हो गई। यही कारण है कि पुराने नाटकों में धर्म का तत्त्व व्यापक रूप से पाया जाता है। जब भारतीयों के हृदय एक बार धर्ममय नाटकों में मिल गए, तब उनसे यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वे एक बार ही धर्म के वातावरण से निकल कर अन्य प्रकार के नाटकों की ओर अपनी आंख उठा सकेंगे। भारतीय जनता की यही रुचि जो इस समय धर्म और वर्तमान-कालीन सभ्यता की सर्वतोमुखी प्रवृत्ति के बीच में उलझी है—किसे ग्रहण करें और किसे त्यागे—वर्तमान मंच-संचालकों की असुविधा का कारण बन रही है।

जनता की धार्मिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने के पश्चात् उसकी अपरिमार्जित बुद्धि पर विचार कीजिए। हिन्दी में अच्छे नाटकों की संख्या प्रातःकालीन तारों की भांति बहुत ही कम है। ऐसी स्थिति में जब कि जनता को यह अवसर ही नहीं दिया जाता कि वह अच्छे-अच्छे नाटकों को देखकर अपनी प्रवृत्तियों और भावनाओं को मांज सके, तब उससे परिमार्जित रुचि की

आशा करना वैसा ही है जैसा किसी भूखी भिखारिणी से विविध व्यंजनों की स्वादोत्कृष्टता का पता पूछना। जब दर्शक-मंडली नाटक के वास्तविक तत्त्वों को जानती ही नहीं, तब ऐसी स्थिति में, वह किस प्रकार अपनी रुचि को सुधार सकती है ?

अभी उस दिन प्रयाग के विश्वम्भर-पैलेस में न्यू अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी आई थी। नाटक था 'गणेश-जन्म'। मैं भी एक आलोचक की हैसियत से वहां गया था। आदि से अंत तक देख लेने पर मुझे ज्ञात हुआ कि संचालक अथवा नाटककार ने नाटक के आदर्शों को पाने की चेष्टा तो नहीं की, वरन् जनता की अपरिमार्जित रुचि में गुदगुदी पैदा करने की कोशिश की है। दृश्यों की जगमगाहट और पर्दों की "फटफटाहट" ही नाट्य-शास्त्र का अंग बन गई थी। जनता के हृदय में कौतूहल-वर्द्धक भावनाओं को जागरित करने की विधियां जुटाई गई थीं। सती का सीता के रूप में अकस्मात् परिवर्तित हो जाना, शिव के काष्ठ-निर्मित नन्दी का अपने पैरों पर खड़े हो जाना मंच पर दक्ष-प्रजापति का सिर काटा जाना, कामदेव का पुष्प-बाण से उजड़ी हुई प्रकृति में पीले और गुलाबी फूलों का अकस्मात् प्रादुर्भाव कर देना, मंच पर गणेश का सिर काटकर उसके शरीर में हाथी का सिर जोड़ देना आदि कितनी ही घटनाएं दर्शकों के हृदय में आश्चर्य और कौतूहल उत्पन्न करने वाली थीं। कथानक का पता नहीं था कि वह किस कोने में है पड़ा हुआ। ऐसा ज्ञात होता था कि मंच किसी जादूगर की

दुकान है, जहां क्षण-क्षण में आश्चर्यजनक परिवर्तन होता रहता है। कथावस्तु रास्ता भूलकर न जाने कहां पिछड़ गई थी, पर कौतूहलवर्द्धक घटनाएं एक-एक कर मंच पर आती-जाती थीं, मानो नाटक के संचालक ने अपना 'कमाल' दिखलाने के लिए ही प्रयाग की सारी जनता को आमन्त्रित किया हो! बीच में सिनेमा का प्रयोग भी किया गया था और उसके अन्तिम दृश्य का जोड़ मंच के अभिनय से दिखलाया गया था। दर्शकों के हाथ रुक न सके। मुख के शब्दों के साथ-साथ हाथों ने भी तालियों के शब्द से सराहना की। सारा पैलेस करतल-ध्वनि से गूंज गया। "स्प्लेंडिड" "सुपर्ब" "ऐक्सीलैंट" और "खूब-खूब" के शब्दों के शोर में तालियों का शोर मिल गया। नाटक के समाप्त होने पर मैंने दर्शकों से, जो पैलेस से हर्ष, प्रशंसा और उत्साह की मुद्रा से निकल रहे थे, पूछा—नाटक कैसा हुआ? सभी ने प्रशंसा से सिर हिलाकर कहा—"कमाल है!" यह थी जनता की रुचि!

डब्ल्यू० ए० डारलिंगटन ने अंग्रेजी में एक किताब लिखी है। उसका नाम है—"लिटरेचर इन दि थियेटर" (Literature in the Theatre)। उसमें उन्होंने लिखा है कि नाटक के तीन तत्त्व हैं, कथावस्तु, शैली और चरित्र। उन नाटकों में, जो जनता में आदृत हैं, कथावस्तु का तो अधिक विस्तार रहता है, पर दो पैसे के मूल्य का चरित्र और शैली का प्रायः अभाव रहता है। जो नाटक साहित्यिक नाटकों की श्रेणी में

आता है और जो अभिनेताओं द्वारा 'रद्दी' कहा जाता है, उसमें शैली की उत्कृष्ट मात्रा रहती है, कुछ चरित्र-चित्रण और कथानक प्रायः शून्य-सा रहता है। आदर्श नाटकों में ये बातें विस्तार से पाई जाती हैं। नाट्य-शास्त्र का जो विद्यार्थी है, यदि वह मन लगाकर नाटकों का रंगमंच पर अध्ययन करे और यदि वह नाटकों के वाह्य और अन्तरतम रूप पर विचार करे, तो कुछ ही दिनों में उसे कथावस्तु में आनन्द नहीं आयगा। नाटकों को अधिक संख्या में देखकर उसे कथानक की ओर से वैसे ही अरुचि हो जायगी जैसे कि एक वहुत मिठाई खाने वाले को मिठाई खाने के पश्चात् मिठास से हो जाती है। उसका एक कारण है। अनेक नाटकों का कथानक आपस में मिलता-जुलता-सा है। कहते हैं, संसार में केवल सात कथानकों का ही अस्तित्व है। भिन्न-भिन्न नाटक, किताब और उपन्यास के कथानक उन्हीं सात कथानकों के रूप में यत्र-तत्र परिवर्तित करके वनाये जाते हैं। ऐसी स्थिति से वहुत सम्भव है—सम्भव क्या, सत्य ही है कि अनेक नाटकों का कथानक एक-दूसरे से वहुत मिलता-जुलता हो। इसी सादृश्य के कारण नाट्य-शास्त्र के विद्यार्थी का ध्यान स्वभावतः पुनरुक्तिमय कथावस्तु की ओर से हटकर चरित्र-चित्रण की विभिन्नताओं अथवा शैली की रीतियों की ओर आकृष्ट होता है यहां तक कि यदि नाटक में विशेष कथावस्तु न भी हो तो उसे इस बात की चिन्ता न होगी। वह तो नाटक की अधिक रोचक और विविध विचारों से युक्त शैली

की ओर ध्यान देगा। इसलिए जनता, जिसे नाटक के कथा-साहश्य का कम ज्ञान है, शैली और चरित्र की अपेक्षा कथावस्तु की ओर अधिक आकर्षित होगी। दूसरी ओर नाटकों का मनन करने वाला विद्यार्थी, जिसे कथा-साहश्य का ज्ञान है, कथावस्तु की ओर ध्यान ही न देगा। इसलिए जो नाटककार जनता की प्रशंसा चाहते हैं वे चरित्र-चित्रण और शैली की ओर कम ध्यान देकर कथावस्तु की ओर ही अधिक ध्यान दें। उनके नाटकों में उपन्यासों के समान कहानियां हों। दर्शकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उनके पास काफी "मसाला" हो तभी वे जनता की प्रशंसा के पात्र बन सकते हैं, अन्यथा नहीं।

डारलिंगटन के इस मत से मैं पूर्णरूप से सहमत इसलिए नहीं हूं कि वह पाश्चात्य जनता अथवा दर्शकों की रुचि देख रहा है और मैं पूर्वीय जनता की रुचि पर ध्यान दे रहा हूं। मैं यह मानता हूं कि दर्शकों को, जो समान रूप से नाटक के तत्त्वों को नहीं जानते, चरित्र-चित्रण और शैली पसंद नहीं, किन्तु केवल कथावस्तु या कहानी ही भारतीय दर्शकवृन्दों का मनोरंजन नहीं कर सकती। पाठकों की बात दूसरी है। वे एक कोने में बैठ कर अपने ही ध्यान के संसार में पात्रों की कल्पना करके कथा-वस्तु का आनन्द लूट सकते हैं, पर दर्शकों के साथ बात ही दूसरी हो जाती है? रुचि परिष्कृत न होने के कारण वे कुछ तमाशा देखना चाहते हैं। अतएव कहानी के साथ ही यदि आश्चर्यजनक घटनाओं का भी समावेश हो—चरित्र की बहुरंगी

रूप-रेखा हो—तो दर्शकों की कौतूहलता और प्रसन्नता दुगुनी बढ़ जायगी और उनके मुख से 'वाह-वाह' की ध्वनियां अवश्य निकल आएंगी। इसलिए कुतूहलवर्द्धक घटनाओं का और पात्रों की अनेकता का अस्तित्व कहानी के साथ-साथ जरूरी है। तभी नाटककार को प्रशंसा का पुरस्कार मिल सकता है। केवल कहानी द्वारा ही दर्शक-हृदय नहीं समझाया या बहलाया जा सकता।

रंगमंच की जनता के विषय को छोड़कर अब रंगमंच की विवेचना करना आवश्यक है। नाटकों का सार्थक अस्तित्व मैं रंगमंच के सम्बन्ध से ही समझता हूँ। पूर्वकाल में भी, जब नाटक अपने शिशुपन में था, नाच और वार्तालाप नाटक के अनिवार्य सहायक थे। सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में नाटकों की सूचना पात्रगण नाटक के वस्त्र पहनकर घूम-घूम कर दिया करते थे। नाटक और अभिनय ये दो ऐसी वस्तुएं हैं जो एक दूसरे से अलग नहीं की जा सकतीं। मेरे विचार से किसी भी भांति नाटकों की उत्कृष्टता का निर्णय बिना मंच के सम्पर्क के नहीं हो सकता। यदि नाटक प्राण है तो मंच उसका शरीर। जो नाटक मंच पर खेले जाने पर अपना बहुत-सा सौन्दर्य खो देते हैं वे चाहे साहित्य की दृष्टि से कितने ही अच्छे क्यों न लिखे गये हों, पर अच्छे नाटकों की श्रेणी में रखने के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। रंगशाला में नाटकों का महत्त्व मंच पर खेले जाने पर है, साहित्यिक ख्याति से नहीं। वहां नाटक प्रथमतः अभिनय करने की वस्तु है, फिर साहित्य की उज्ज्वल रत्न-राशि। यह एकान्त सत्य

है पर इसका रूप रंगशाला के महारथियों ने बहुत विकृत कर दिया है। वे समझते हैं कि रंगमंच का अभिनय एक बात है और साहित्य दूसरी। नाट्य-मंच पर अभिनय होने वाली चीज़ साहित्य हो ही नहीं सकती। बात यह है कि नाटक वस्तुतः कथोपकथन में ही लिखे जाते हैं और इसलिए साधारण बोल-चाल की ही भाषा उनमें प्रयुक्त होती है। साधारण बोल-चाल की भाषा जो साधारण जनता में प्रचलित है, साहित्य का स्वरूप कभी ग्रहण नहीं कर सकती। उसके बोल-चाल का नग्न संग्रह साहित्य में नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत जब नाटक के पात्र साहित्यिक भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तो वे जीवन की साधारण भाषा से बहुत दूर पड़ जाते हैं और उनके शब्द और वाक्य उपहासास्पद और अ-नाटकीय हो जाते हैं। अतएव यह निश्चय है कि जो वस्तु मंच पर कही जाती है वह साहित्य नहीं और जो साहित्य मंच पर लाया जाता है वह नाटकीय नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि नाट्यवस्तु और साहित्य में आकाश पाताल का अन्तर है। वे कहते हैं कि नाटक बोलने और अभिनय करने की वस्तु है और साहित्य पढ़ने तथा मनन करने की। कला के दो रूप एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं।

लगभग चौदह वर्ष हुए मिस्टर ई० सी० मांटेग्यू ने इसकी बड़ी खोज की थी। अन्त में उनके कथन का तात्पर्य यही था कि नाटक जितने ही अधिक साहित्यिक होंगे उतने ही अधिक वे रंगमंच के अयोग्य और जितने ही अधिक वे रंगमंच के योग्य होंगे उतने

ही अधिक वे अ-साहित्यिक होंगे। यही सिद्धान्त अमेरिका के एक प्रसिद्ध अभिनेता मिस्टर जेम्स के० हैकेट ने प्रदर्शित किया है। उन्होंने मिस्टर हारलिंगटन को एक पत्र में लिखा है—

"......अभिनीत होने वाले (असाहित्यिक) और अभिनीत न होने वाले (साहित्यिक) नाटक के विषय में जो विचार हैं वे एकान्त सत्य हैं और अनुभवी मनुष्य उनमें शंका न करेगा। मैं अपने कालेज के दिनों की घटना का ज़िक्र करता हूँ, जब मैं वक्तृता का पदक लेने की कोशिश कर रहा था। वक्तृता देने वालों के लिए यह आवश्यक था कि वे प्रथम वक्तृता लिखकर अंग्रेज़ी विभाग में उसकी प्रति दे दें। कुछ सप्ताह के बाद मुझे प्रोफेसर साहब ने बुलाया और भर्त्सना-पूर्ण शब्दों में कहा—'मिस्टर हैकेट, मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी। तुमने तो ऐसा खराब लिखा है कि उसे दुबारा पढ़ने को तबियत ही नहीं होती। यह फेंक देने लायक चीज़ है। यदि तुम्हारा निर्णायक मैं होता तो तुम्हें शून्य देता।"

मैंने उत्तर दिया—'प्रोफ़ेसर साहब, यह वक्तृता कहने या सुनने की वस्तु है; सोचने-समझने या अध्ययन करने की सामग्री नहीं, वक्तृता और साहित्य ये दोनों भिन्न-भिन्न विषय हैं। एक के द्वारा हम श्रवण-शक्ति को उत्तेजित करते हैं, दूसरे से मनन और अध्ययन-शक्ति को।'

इसी प्रकार नाटक और साहित्य में अन्तर है। नाटक खेलने और बोलने की वस्तु है, साहित्य मनन करने की। न तो नाटक साहित्य हो सकता है और न साहित्य नाटक ही। नाटककार यही तो भूल करते हैं कि वे नाटक को प्रकाशित कराके साहित्य के सामने पढ़ने और

अध्ययन करने की वस्तु बना देते हैं" पर वास्तव में सत्य इससे दूर है।

हिन्दी में राधेश्यामजी के नाटक पूर्ववत् इसी मत की पुष्टि करते हैं। उनके नाटकों से भी एक ही स्वर निकलता है, रंगमंच के नाटकों का साहित्य से कोई सरोकार नहीं। राधेश्याम-रचित "मशरिक़ी हूर" का चौथा सीन इसी मत का प्रतिपादक है।

मिस्टर हैकेट और वर्तमान थियेट्रिकल कम्पनी के नाटककारों से मैं इस बात में सहमत नहीं हूं। यह सत्य है कि बोलने और सुनने की वस्तु में पढ़ने या लिखने की वस्तु से कुछ विशेषता अवश्य होनी चाहिए, पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह बोलने और सुनने की वस्तु न हो। कुछ वर्ष हुए सर जगदीश-चन्द्र बोस ने इलाहाबाद-यूनीवर्सिटी का कन्वोकेशन 'एड्रेस' पढ़ा था। वक्तृता के अतिरिक्त वह मनन करने का वस्तु भी थी। इसी प्रकार नाटक अभिनय के उपयुक्त होते हुए भी साहित्य हो सकता है। रङ्गमंच की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भी नाटक साहित्य का सौन्दर्य पाया जा सकता है। श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी-रचित कृष्णार्जुन युद्ध में मंच और साहित्य का मिलाप देखिए—

द्वितीय दृश्य

स्थान—गंगा-तट

(एक गंधर्व अपनी स्त्री और उसकी सखी-सहित विमान द्वारा उतरता है। कपड़े उतार कर सब गंगा में तैरते हैं)

गधर्व—(तैरते हुए) प्रिये चित्रांगी, तुम्हारे कोमलांगों के स्पर्श से मृदुता का पाठ सीख ये लहरियां धीरे-धीरे पास आती हैं—मानो सशंक भाव से यह पूछने के लिए कि हम में वह कोमलता आई है या नहीं !

सखी—प्रिय सखि चित्रांगी, चित्रसेन महाराज ठीक तो कहते हैं। इन तरंगों में कहीं-कहीं छोटे-छोटे गड्ढे भी हैं। कह सकती हूँ कि यह तुम्हारे कपोल-भंग का अनुकरण है।

चित्रसेन—चंचल मछलियां आंखों का अनुहार करती हैं, सिवार इन लहराते केशों का और भँवरे इनकी गुनगुनाहट का।

चित्रांगी—बस, महाराज।

सखी—और—

त्रित्रांगी—(कुछ क्रोध प्रकट कर) क्यों प्रेमलता, चुप न रहेगी।

प्रेमलता—सखि, मैं कहने वाली थी कि गंगा में मेरी सखी के स्वरूप का सभी सामान है, किन्तु मैं अब यही कहूँगी—गंगा तेरा प्रयत्न व्यर्थ है ! मुस्कराते हुए वदन क्रोध-भरी भौंहों का योग तू किस प्रकार साधेगी ?

चित्रांगी—गंगा बेचारी क्या योग साधेगी, किंतु इस समय तुम दोनों का योग खूब सधा है।

प्रेमलता—सखि चिढ़ो ना, तुम हमारे हृदय की प्रशंसा नहीं करतीं कि हम दोनों तुम्हारे स्वरूप को संसार की प्रत्येक वस्तु में देखते हैं।

चित्रसेन—ठीक कहा सखी, किन्तु पूर्णतया नहीं। यह नदी चंचल है, मेरी प्रिया नहीं।

प्रेमलता—सखी का मन तो चंचल है।

चित्रांगी—हाँ, हाँ, चंचल है; किंतु तुझ से कम।

चित्रसेन—प्रिये, चलो उस पोखर में से कमलों को तोड़ लावें।

(सब एक ओर तैरते हुए जाते हैं और दूसरी ओर से ऋषि ·)"

संस्कृति के वातावरण में सभ्यगण इससे भी परिष्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक बोल-चाल से यह भाषा किसी भांति भी भिन्न नहीं कही जा सकती। मंच-रचा और साहित्य-सौन्दर्य की यह गंगा-यमुना हिन्दी में नाटकों का आदर्श स्वरूप रख सकती है।

नाटक को साहित्य से भिन्न स्थान देने के लिए मंचवालों का दूसरा विरोध यह है कि नाटक का कोई अवतरण साहित्यिक दृष्टि से चाहे कितना ही सुन्दर और मनोहर क्यों न हो, पर मंच के अनुसार परीक्षा लेने पर ज्ञात हो जायगा कि उसमें नाटकीय तत्त्व बिलकुल नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि अमुक अवतरण काव्य दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है, किन्तु वह कार्य-व्यापार को आगे बढ़ाने में कितनी सहायता देता है? ऐसे अवतरण केवल साहित्य के लिए मणि हैं, पर मंच के लिए निरर्थक काँच के टुकड़े। इसीलिए साहित्यिक नाटक मंच से बहुत दूर जा गिरते हैं। उदाहरणार्थ बाबू जयशंकरप्रसाद का "जनमेजय का नागयज्ञ" नाटक लीजिए—

शक्ति पर बहुत ज़ोर देना पड़ेगा और अनुमान से तत्कालीन दृश्य को अप्रत्यक्ष रूप से देखना होगा। दूसरे उनको कहीं-कहीं नाटक नीरस-सा प्रतीत होगा। दर्शक-गण बिना बाह्य सौन्दर्य्य के नाटक के रूप को उसी प्रकार कठिनता से देख सकेंगे, जिस प्रकार मलेरिया का रोगी कड़वी कुनीन को बड़ी कठिनता से खा सकेगा। ठीक बाह्य सौन्दर्य की भांति सुन्दर साहित्यिक अवतरण नाटक का आन्तरिक सौंदर्य है। साहित्यिक अवतरण भी जनता की सौंदर्योपासक भावना की तृप्ति करते हैं और साथ-साथ कथानक के अवतरण का निर्माण भी। "जनमेजय का नागयज्ञ" नाटक में नेपथ्य के संगीत ने शान्त और वैराग्य के वातावरण की कितनी सुन्दर सृष्टि की है।

दूसरी ओर से साहित्यिक नाटककारों की ध्वनि सुनाई देती है। वे कहते हैं—नाटककार को दर्शकों से क्या मतलब? वह मंच के चौखटे में अपने-अपने नाटक का चित्र क्यों कस दें? उसे तो कला-रूप से नाटक की रचना और उसी की उत्कृष्टता से काम है, दर्शकों और मंच का विषय तो मंच-संचालन का है। सच्चे कलाकार का दर्शकों से क्या सम्बन्ध? उस नाटककार को, जो सच्ची कला के रूप की अवतारणा करता है, इन साधारण झंझटों से क्या सरोकार? उसके उत्कृष्ट आदर्श के सामने दर्शक-वृन्दों और मंच का मामला रखना उसे स्वर्ग से खींचकर नरक में गिराना है! आत्म-प्रदर्शन के लिए ही उसकी कला है। वह तो "स्वान्तःसुखाय" लिखता है। उसे क्या पड़ी है जो वह दर्शकों

को—चाहे वे अच्छे हों, या बुरे हों—रिझाने के लिए बैठे ? इस प्रश्न का उत्तर विलियम आर्चर ने अपनी प्ले-मेकिंग (Play-making)पुस्तक में बड़ी अच्छी तरह से दिया है। वे लिखते हैं—जो कलाकार इसी तरह सोचना पसंद करते हैं उनसे मुझे कुछ नहीं कहना है। उन्हें पूरा अधिकार है कि जिस प्रकार अपने नाटकों में (जो शायद नाटक कहे जा सकते हैं !) अध्ययन या अभिनय के द्वारा आत्म-प्रदर्शन करें किन्तु जो नाटककार वास्तव में आत्म-प्रदर्शन करना चाहता है उसे मंच की सहायता लेनी पड़ेगी। एक चित्रकार चाहे "स्वान्तःसुखाय" सुन्दर चित्र खींचे, मूर्तिकार मूर्ति बनाये, गायनाचार्य गीत गाये, किन्तु नाटककार बिना मंच के आत्म-प्रदर्शन कर ही नहीं सकता। बिना मंच के अस्तित्व के नाटक के कुछ अर्थ नहीं होते। वह जीवन का ऐसा प्रदर्शन है जो मंच के वातावरण में ही हो सकता है, अन्य स्थान पर नहीं। इसीलिए तो उपन्यास और नाटक में बड़ी भिन्नता है। एक का दिग्दर्शन हृदय पर होना है, दूसरे का मंच पर।

अतएव अब हम इस निष्कर्ष पर पहुंच चुके हैं कि रंगमंच और साहित्य से युद्ध नहीं, वरन् शुद्ध संधि है। हमारे हिन्दी नाटककारों को मंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही नाटक लिखना चाहिए। मंच की अवहेलना कर निरे साहित्यिक नाटकों से हिन्दी का नाट्य-क्षेत्र गौरवान्वित नहीं हो सकता।

वर्तमान हिन्दी नाटकों का समूह दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहले प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें केवल रंगमंच का ध्यान रखा जाता है। उनमें दर्शकों के कौतूहल-वर्द्धन की सामग्री रहती है। उनमें वास्तविक जीवन का चित्रण नहीं के बराबर रहता है और साहित्य के अस्तित्व का तो पता भी नहीं चलता। ऐसे नाटक उपन्यास-बहार आफिस से बहुत प्रकाशित हुए हैं। उनमे मंच की सुविधा का तो यथोचित ध्यान है, परन्तु जीवन की प्रतिक्रिया का सर्वथा अभाव है।

दूसरे प्रकार के वे नाटक हैं जिनमें केवल साहित्य की लड़ियां सजाई जाती हैं। ऐसे नाटक की रचना इस प्रकार की जाती है, मानो उसके सभी दर्शक दार्शनिक अथवा कवि हैं। यद्यपि उसमें जीवन का चित्र, मानवीय भावनाओं का स्पष्टीकरण एवं मनोविज्ञान की स्पष्ट मूर्ति रहती है; पर उनमें मंच की साधारण-से-साधारण सुविधा की ओर ध्यान नहीं रखा जाता। मंच की अवहेलना करने पर उच्चकोटि का साहित्यिक नाटक भी वास्तव में आदर्श नाटक नहीं कहा जा सकता। इसी श्रेणी में बाबू जयशंकरप्रसाद के कुछ नाटक हैं—प्रेमचन्द जी के भी दो नाटक (संग्राम और कर्बला) हैं।

हमें हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि करनी है जो वास्तव में जीवन की प्रतिकृति होते हुए भी रंगमंच में सुविधानुसार पूरे उतर आएं। उनमें साहित्य की व्यंजना भी यथेष्ट हो और रंगमंच की आवश्यकताओं की सामग्री भी पूर्णरीति से हो।

जिस समय हिन्दी में ऐसे नाटकों की सृष्टि होगी उस समय हमारा हिन्दी नाट्यशास्त्र अन्य साहित्यों के अच्छे नाटकों से समानता कर सकेगा। इस समय बाबू जयशंकरप्रसाद जी के नाटकों की प्रवृत्ति इस आदर्श स्थिति की ओर है।

नाटकों के अभिनय का समय अधिक-से अधिक दो-तीन घंटों तक ही परिमित रहना चाहिए। चीन के नाटकों की बात छोड़ दीजिए, जहां एक नाटक में सोलह अंक होते हैं और प्रत्येक अंक एक घंटे में समाप्त होता है (शायद अफ़ीम का ही यह परिणाम हो) पर हमें तो तीन घंटे से अधिक समय किसी अभिनय को देना ही नहीं चाहिए। हम एक स्थिति में एक बार सुविधानुसार तीन घंटे से अधिक बैठे भी नहीं रह सकते और न तीन घंटे से अधिक एक ही वस्तु को अपना ध्यान समेटे हुए देख ही सकते हैं। ऐसी स्थिति में हमें अधिक समय (जिससे शरीर और मन को असुविधा हो) मनोरंजन में नहीं देना चाहिए। यदि कोई नाटककार यह कहे कि मैं दो या तीन घंटे के भीतर अपने हृदय की भारी भावनाएं दर्शकों के सामने नहीं रख सकता, तो वह नाटककार नहीं है। विलियम आर्थर का कहना है कि जो नाटककार दर्शकों की अवहेलना करता है वह केवल अपना सन्मान और लाभ ही नहीं खोता, वरन् अपनी रचना के कला-रूप को भी खो देता है। हिन्दी में ऐसे कई नाटक हैं जिनकी पृष्ठ-संख्या दो सौ के लगभग या दो सौ से ऊपर है। ऐसे नाटक तीन घंटे में नहीं खेले जा सकते। उन्हें तीन घंटे में लाने

के लिए कतर-व्योंत की जरूरत पड़ेगी। ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि नाटक का साहित्यिक सौन्दर्य बहुत कुछ नष्ट हो जाय। इसलिए इस 'कतर-व्योंत' से बचने के लिए पहले ही से ऐसा नाटक क्यों न लिखा जाय, जिसमें नाटककार के मुख्य और सुन्दर भावों का प्रदर्शन १२५ पृष्ठों से अधिक न हो।

हिन्दी नाटकों में संकेत शब्द बहुत ही कम लिखे जाते हैं। नाटककारों में यह रुचि नहीं है कि वे मंच पर अपने विचारानुसार अभिनय कराएं। वे तो अपने कार्य की इतिश्री वहीं समझते हैं जहां पात्रों के कथोपकथन में अपने हृदय की सारी भावनाओं को भर दिया जाय। इसके बाद वे नाटक से ऐसा हाथ सिकोड़ लेते हैं, मानो उनका उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं। पाश्चात्य नाटकों में नाटककार अपनी इच्छा की चीजें मंच पर उपस्थित करवा लेते हैं। वहां मंच-संचालक को उनकी आज्ञा में रहना पड़ता है। नाटककार अपने अंक के नियमानुकूल जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता मंच पर समझते हैं उन सब चीजों का निर्देश कर देते हैं। वे सारी चीजें मंच पर उपस्थित करनी पड़ती हैं। पाश्चात्य नाटककार संकेत लिखने में पटु भी बहुत होते हैं। मेरी डिक्स ने अंग्रेजी में एक एकांकी नाटक लिखा है। उसका नाम है—एलीसन्स लैड (Allison's lad) उसका संकेत-चित्रण देखिए—

एलीसन का लड़का

दृश्य—इंग्लैंड की पश्चिमीय मध्यभूमि में फेरिफ़ोर्ट गांव।

काल—द्वितीय सिविलवार का अन्त; सन् १६४८ का शरत्काल।

हेमन्त की नीरस-अर्द्धरात्रि, रिमझिम पानी बरस रहा है, फेरिंग-फ़ोर्ट की सराय के ऊपरी कमरे में, जो धुंधले प्रकाश और अग्निकुण्ड (चूल्हे) की धीमी आंच से प्रकाशित है, कैवेलियर पार्टी के पांच सज्जन बैठे हैं। वे प्रातःकाल की भयावह लड़ाई में कैदी बना लिये गये हैं।

अग्निकुण्ड के निकट एक हाथदार कुर्सी पर मंच की बांई ओर उनका नेता सर विलियस स्ट्रिकलैंड बैठा है। वह ऊंचा, मध्यावस्था का उत्साही मनुष्य है और अपने दल का उत्कृष्ट नमूना है। वह साहसी अफ़सर और उत्कृष्ट भावनाओं से युक्त सज्जन है। बगल में एक बहुत भयानक घाव है जो जल्दी से बांध दिया गया है। उसे पता ही नहीं कि उसके आसपास क्या हो रहा है।

उसका कप्तान और पुराना मित्र जार्ज बोयर अनुरागी और प्रचण्ड प्रकृति का मनुष्य है। उसकी आयु स्ट्रिकलैंड की ही आयु के बराबर है। वह कमरे के बीचोंबीच बैठा है। वहां वह एक भद्दी-सी टेबल पर, जो मच के दाहिनी ओर है, खेल देखता हुआ गंभीर भाव से एक बड़ा लम्बा चुरट पी रहा है।

टेबिल के चारों ओर भद्दे स्टूलों पर गोरिंग, हाम्प्टन और विन-वुड बैठे हुए पांसे खेल रहे हैं। उनके कैदीपन में प्रसन्नता लाने के लिए उनके बीच में शराब का एक सागर रखा हुआ है। गोरिंग भाग्यवान्, आत्मश्लाघी युवक सिपाही है। हाम्प्टन टेंपल का एक सज्जन है, जो सिपाही बन गया है। उसके हाव-भाव में अभी तक गुण्डापन नज़र आता है। वह घायल है और उसके माथे में खून से

रंगी पट्टी बंधी है। तीसरा खेलने वाला बिलकुल १७ वर्ष का लड़का है। चिकना चेहरा, सुन्दर और वीरोचित चाल है।

यह ध्यान देने योग्य है कि वे लोग अनमने मन से बोल रहे हैं। वस्तुतः काली कोठरी में, आधी रात की भयानकता, पत्थर की खिड़की पर पानी की टपटपाहट, उनके सामने कैदीपन की सन्दिग्धता ला दे और उन्हें इस विचित्र प्रश्न की ओर लगा दे कि प्रातःकाल उनका क्या होगा। गोरिंग, जो तीनों से बहुत मज़बूत और सिपाही है, पांसा खेलने के साथ पहले बोलता है।

इस संकेत-चित्रण से नाटककार ने वे सब बातें लिख दी हैं जो वह अपने अभिनय के लिए चाहता है, यहां तक कि पात्रों की आयु भी लिख दी है। अब संचालक का कर्त्तव्य है कि वह उल्लिखित आयु के ही पात्र चुने और जो-जो वस्तुएं नाटककार ने लिख दी हैं वे सब मंच पर इकट्ठी करे। जब नाटककार अपना नाटक मंच के लिए देता है तो उसे अधिकार है कि जो वातावरण या स्थिति वह चाहता है उन्हें मंच पर लाने की आज्ञा दे, किन्तु हिन्दी नाटककार कदाचित् बहुत संकोची हैं। वे मंच-कर्त्ता को कष्ट नहीं देना चाहते। वे अपना नाटक रंग-मंच में अभिनय करने के लिए दे देने पर बिलकुल फुरसत पा जाते हैं। वे नाटक के विकास अथवा कला-रूप में तो पाश्चात्य नाटकों का अनुकरण करते हैं, पर संकेत-लेखन में कदाचित् झेंप जाते हैं। वे बेचारे मानो मंच-कर्त्ता के हाथों में अपने को और अपने नाटक को सौंपते हुए कहते हैं—"भाई, तुम्हें जैसा अच्छा लगे,

वैसा ही कर लो।" कैसा नम्र वाक्य मुख से निकलता है ! यदि मैनेजर अच्छा हुआ तो उसने नाटक सम्हाल लिया और यदि नाटककार के दुर्भाग्य से खराब हुआ तो नाटक की असफलता का सारा दोष बेचारे नाटककार के सिर पर पड़ता है। इतने पर भी नाटककार चुपचाप रहकर संकेत-भाषा इस तरह लिखेंगे—

(क) स्थान—तपोवन

[आस्तीक और मणिमाला का प्रवेश]

—जनमेजय का नागयज्ञ

(ख) स्थान—स्वर्ग

(वीणापति मुनि का प्रवेश)

—कृष्णार्जुन युद्ध

(ग) स्थान—नगर के पास का भाग

(अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित अपने दो बच्चों के साथ सुमति का प्रवेश)

—दुर्गावती

(घ) वलीद का दरबार, वलीद और मेर्वान बैठे हुए हैं। रात का समय—

—कर्बला

हमारे हिन्दी नाटकों में भी संकेत-भाषा का उचित प्रयोग होना चाहिए; और साथ ही नाटककारों में अपने नाटक को अपनी रुचि के अनुसार अभिनीत कराने की आकांक्षा उत्पन्न होनी चाहिए।

अब मैं हिन्दी नाटकों के 'स्वगत-कथन' पर विचार करना चाहता हूं। हिन्दी नाटकों में यह 'स्वगत-कथन' का रोग बहुत

पुराना है। न जाने कितने वर्षों से यह हिन्दी नाटकों में जोंक के समान आकर चिपट गया है। पाश्चात्य नाटकशाला में हम यही बात पाते हैं। शेक्सपियर के नाटकों में 'स्वगत-कथन' की विशेष मात्रा है।

जो हो, स्वगत-कथन हिन्दी नाटकों की पैत्रिक सम्पत्ति रहने पर भी अब काम की चीज़ नहीं है। यह नितांत अस्वाभाविक है कि कोई व्यक्ति अपने-आप ही बोलता हुआ चला जाय। न उसके साथ आदमी है, न वह स्वयं आदमियों के साथ है, किन्तु वह जो मन में आता है, बोलता चला जाता है। ऐसी स्थिति में या तो हम उसे पागल कहेंगे या शराबी या अफीमची। स्वगत-कथन तो विचारों का प्रकाश रूप है। पर स्वाभाविकता के लिए इसे दूर ही करना होगा। करुणा या क्रोध में एक-आध वाक्य भले स्वगत-रूप में हो पर उससे पृष्ठ-के-पृष्ठ नहीं रंगे जा सकते।

बाबू जयशंकरप्रसाद-रचित "जनमेजय का नागयज्ञ" नाटक के प्रथम अंक के पांचवें दृश्य में एक तक्षक आता है। अब उसका स्वगत-कथन सुनिए—

"तक्षक—प्रतिहिंसे! तू क्यों हृदय को जला रही है। मैं अपने शत्रुओं को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते, देख रहा हूँ और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरती पर पैर रखते हुए भी कांप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस कंकाल में धधक उठती है। तू बलि चाहती है तो ले, मैं दूंगा। छल, प्रवंचना, कपट, अत्याचार, सब

तेरे सहायक होंगे। हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियां बनेंगी। रक्त-रंजित हाथों से तेरा अभिषेक होगा। शून्य गगन शवगंध-पूरित धूम से भरकर तेरी धूपदानी बनेगा। तक्षक पुजारी होगा—कंटकासन पर बैठकर तेरी उपासना करेगा। ठहर, देवी ठहर !

(खड्ग निकालता है)"

इसमें अकेले ही बोलने वाले की उपहासावस्था हंसाये विना नहीं रहती। प्रसादजी की श्रीलेखनी से हम यह आशा नहीं रखते।

स्वगत-कथन का एक दूसरा प्रकार भी है। जब दो व्यक्तियों में वार्तालाप होता है तो एक व्यक्ति सारी ऐसी बातें कहता है जो दूसरे व्यक्ति को वह नहीं सुनाना चाहता, किन्तु दर्शकों को बतलाना चाहता है। जब वह इतने जोर से बोलता है कि दर्शकवृन्द उसे सुन लेते हैं पर पास ही खड़ा व्यक्ति नहीं सुन सकता तो इस असम्भव कल्पना से किसे हंसी न आएगी ? यह कितना अस्वाभाविक है कि उसी बात को दस गज दूर बैठी जनता सुन ले और मुश्किल से गज भर की दूरी पर खड़ा हुआ अन्य व्यक्ति न सुन सके। श्री० बदरीनाथ भट्ट-रचित "दुर्गावती" नाटक के पहले अंक के छठे दृश्य में सुमति के स्वगत-कथन के पश्चात् सुमेरसिंह आता है। वह स्थल इस प्रकार है—

"सुमति—······यों भटक रहे हैं।

(सुमेरसिंह का प्रवेश)

सुमेर०—(ध्यानपूर्वक देखता हुआ आप-ही आप) यह कोई दुखिया क्षत्राणी दीखती है। देखूं, क्या कहती है।

(धीरे से पीछे हटकर छिप जाता है)

सुमति—नहीं, नहीं, यह मेरा ही दोष है, जो मैं अपने स्वार्थ के वश यों सोचती हूँ। आपने तो खूब सोच-विचार कर ही ऐसा किया होगा। स्वामी, आप सुन रहे हैं, पर दुःख के कारण जो कुछ मेरे मुंह से निकल गया, उसके लिए मैं क्षमा मांगती हूँ।

सुमेर०—(प्रकट होकर) अरी दुखिया, तू कौन है? महारानी दुर्गावती के राम-राज्य में तुझ पर कौन-सा संकट आ पड़ा, और किधर से ? —आदि"

ऐसे स्वगत-कथन बहुत अस्वाभाविक जान पड़ते हैं। सुमेर-सिंह के वाक्य "यह कोई दुखिया क्षत्राणी दीखती है। देखूं, क्या कहती है" दर्शकवृन्द तो सुन लेते हैं, पर सुमति जो दर्शक-वृन्द से भी कम दूरी पर स्थित है, नहीं सुन सकती! यह असंभव कल्पना है या नहीं ?

पाश्चात्य नाटककारों ने इस स्वगत-कथन के मिटाने की एक युक्ति सोच रखी है। उन्होंने एक नये विश्वास-पात्र पात्र की अवतारणा की है। स्वगत-कथन वाला जो कुछ भी कहना चाहता है वह उस विश्वास-पात्र से कहता है। इससे वह "अस्वाभाविक प्रलाप" के दोष से बच जाता है। इस युक्ति से पात्र एक दूसरे से वार्तालाप करते हुए स्वगत-कथन से बच जाते हैं। हिन्दी नाटकों में भी इस दोष के दूर करने का उपाय

सोचना चाहिए। या तो पाश्चात्य मंच के अनुसार एक नये पात्र की सृष्टि करनी चाहिए अथवा ऐसी युक्ति निकालनी चाहिए जिससे पात्र का 'प्रलाप' समुचित जान पड़े।

नाटकों में एक और भी दोष है। वह पद्य में बोलने का है। जिस स्थान पर उत्साह, क्रोध, करुणा आदि का प्रदर्शन करना पड़ता है, उस स्थान पर नाटककार शीघ्र ही गद्य से पद्य में लिखने लगता है। यदि नाटक जीवन की छाया है, उसके अंगों का प्रदर्शन है; तो उसमें जीवन का चित्र रहना चाहिए। हम कभी अपने जीवन के साधारण व्यवहार में पद्य का प्रयोग नहीं करते। यदि ऐसा होता तो सारा संसार ही कवि बन जाता। साधारण बोलचाल ही जब हमारे भावों को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है तो हमें उसमें पद्य लाने की आवश्यकता ही क्या है ? यदि हम पद्य में अपने दैनिक भावों का प्रदर्शन करें और अपने मित्र से, साधारण बोलचाल में, अपने सम्बन्धियों से साधारण व्यवहार में—

"भूख लगी है, थाली लाओ,
अब न करो थोड़ी भी देर।"

कहें तो वे हंसकर कहेंगे—आप यह किस तरह कह रहे हैं। जो कुछ कहना चाहते हैं ठीक तरह से कहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब नाटक में हम अपने जीवन की घटनाएं देखना चाहते हैं तो उसका चित्रण ठीक वैसा ही होना चाहिए, जैसा साधारणतः होता है। किन्तु हिन्दी नाटकों में

ऐसा नहीं किया जाता। उसमें जो स्थल शोक, क्रोध, चिन्ता, वीरत्व आदि के हैं उनमें पात्र गद्य कहते-कहते पद्य भी कहने लगते हैं।

श्री बद्रीनाथ भट्ट-रचित "दुर्गावती" नाटक में, पहले अंक के पहले दृश्य में पृथ्वीराज राठौर का प्रवेश होता है। अब उनकी "तक़रीर" सुनिए—

(पृथ्वीराज राठौर का प्रवेश)

पृथ्वी०—(आप-ही-आप) आज तो जहाँपनाह की दशा विचित्र ही देखता हूँ।

किस पर भला यों आज यह त्योरी चढ़ी है आपकी ?
क्यों, चोट किस पर होने वाली है तने इस चाप की ?
हो क्रुद्ध यों यमराज ने किस पर उठाया दंड है ?
किसका प्रचण्ड घमण्ड होने को अभी शत-खंड है ?

तनिक पूछूँ तो। (अकबर से) श्रीमहाराजाधिराज शाहंशाह आज जहाँपनाह को किस चिन्ता ने आ घेरा है जो—

अक०—(पृथ्वीराज की ओर देखकर) आओ पृथ्वीराज; आओ।

पृथ्वी०—जहाँपनाह—

क्रुद्ध हुए हैं भला, आज यों किस अत्याचारी पर आप ?
कौन मेटनेवाला है, खुद मिटकर दुनिया का संताप ?
भला कौन से पापी का अब घड़ा फूटने वाला है ?
कौन शख्स है, जिसका यम से पाला पड़ने वाला है ?
कौन मूर्ख है वह, सोते अजगर को जिसने छेड़ा है ?
गहरे सागर में क्यों, कौन डुबाता अपना बेड़ा है ?

सचमुच कोई करता होगा, दीन प्रजा पर अत्याचार ?
देने का जिसको कि दंड करते हैं जहाँपनाह विचार।"

—इत्यादि

श्री प्रेमचन्द-रचित "कर्बला" में तीसरे अंक के छठे दृश्य में जैनब कर्बला के मैदान में हुसेन से कहती है—

'जैनब—हाय भैया! यह मनहूस जगह है। मुझे लड़कपन से यहां की ख़बर है। हाय भैया! इस जगह तुम मुझसे बिछुड़ जाओगे। मैं बैठी देखूँगी और बरछियाँ खाओगे। मुझे मदीने भी न पहुँचा सकोगे! रसूल की औलाद यहीं तबाह होगी, उनकी नामूस यहीं लुटेगी? वाय तबदीह।

इस दश्त में तुम मुझसे बिछुड़ जाओगे भाई।
गर ख़ाक भी छानूँ तो ना हाथ आओगे भाई॥
बहिनों को मदीने में न पहुँचाओगे भाई।
मैं देखूँगी और बरछियाँ तुम खाओगे भाई॥
औलाद से बानू की यह छुटने की जगह है!
नामूसे नबी की यही लुटने की जगह है!!
(बेहोश हो जाती है। लोग पानी के छींटे देते हैं)

श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी-रचित कृष्णार्जुन युद्ध में भी इसी अस्वाभाविक पद्य-व्यवहार की भरमार है। प्रथम अंक के चतुर्थ दृश्य में कृष्ण का कारुणिक प्रलाप इस प्रकार है—

"(मोर मुकुट मुरलीधर पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—(स्वगत) कौन जानता है, वहां क्या होता होगा? होता होगा स्मरण करते हुए हृदयों का संहार, मेरा मनन करते हुए अप्रिय व्यापार, और मेरे गुण गाते हुए वियोग से हाहाकार और चढ़ता होगा मेरी मानसिक मूर्ति पर अश्रुओं का गद्गद् हार! वृन्दावन, अहा! वृन्दा-

वृन्दा, तुझ में भरा हुआ है, मेरे बालकपन का रंग।
लाड़ जसोदा मैया का वह, भैया बलदाऊ का संग॥
ग्वाल-बाल की सुखद मंडली, गौवें यमुना और निकुंज।
राधा-सह सखियों का आना, चन्द्र साथ ज्यों तारक पुंज॥
ध्वनि मुरली की रास-रंग वह जल-क्रीडा-स्वच्छंद विहार।
कैसे भूल सकूंगा वृन्दा माखन-मिश्री का उपहार!
हाय, याद वह दुखदायी है, आज कन्हैया रोता है!
नन्दबबा जू मुझसे पूछो, बेटा कह क्या होता है?

उफ़ हृदय शान्त हो। आज कितने ही दिन बाद, मुझे यह स्मृति आई। इन आँसुओं से हृदय तृप्त हुआ। (ठहरकर) थोड़ी देर मुरली बजाऊँ, मन की थकन मिटाऊँ पर कौन सुनेगा? मैं तो हूँ, जी बहलाऊँगा—व्याकुल हृदय को समझाऊँगा।

(कृष्ण का मुरली में एक तान गाना)

राधेश्यामी नाटकों में तो पद्य का समुद्र उमड़ता है। वहाँ एक साँस में गद्य और दूसरी में पद्य। पहले अंक के चौथे सीन में हमीदा अकमलशाह से कहती है:—

हमीदा—क्यों? क्यों पसन्द नहीं है? बेटी क्या बाप की औलाद नहीं समझी जाती? बेटी को क्या बेटों की तरह से माँ दूध नहीं पिलाती?

आज होगी कारगर तालीम मुर्शिद आपकी।
मैं दिखा दूंगी कि क्या करती है बेटी बाप की॥

अकमलशाह—यह सब सच है। मगर लड़की, तू फिर भी लड़की है।

हमीदा—अगर लड़की का सवाल ही मेरे जोश और हौसले का

ख़ारिज है, तो लीजिए, मैं आज से लड़का हुई जाती हूँ।

मर्दाना लिबास पहनती हूँ और हमीदा से हमीद बनकर अपने बाप को छुड़ाने के वास्ते रवाना होती हूँ—

लड़की न समझिये इसे, है नाम की लड़की।

तोड़ेगी अभी कुफ्र को इस्लाम की लड़की ॥" इत्यादि।

डी० एल० राय ने अपने नाटकों में इस पद्य-व्यवहार का बहिष्कार बड़ी अच्छी तरह से किया है। भावोन्माद के अवसर में भी जब कोई हिन्दी नाटक का पात्र बड़े ज़ोर से भावोन्मेष में चिल्लाने लगता है, डी० एल० राय के पात्र बड़ी सौम्यता से अपने विचार प्रकट करते हैं! शाहजहाँ नाटक के दूसरे अङ्क के पाँचवें दृश्य में शायस्ताख़ाँ कहता है—

"हिन्दोस्तान के बादशाह ग़ाज़ी आलमगीर।

(बुर्क़ा डाले हुए जहानारा का प्रवेश)

जहा०—झूठ बात है। हिन्दोस्तान का बादशाह औरंगज़ेब नहीं है। हिन्दोस्तान के बादशाह शाहंशाह शाहजहाँ हैं।

मीर-जुमला—कौन है यह औरत?

जहा०—कौन है यह औरत? यह औरत है, बादशाह शाहजहाँ की लड़की जहानारा।

(बुर्क़ा उलट कर) क्यों औरंगज़ेब, तुम्हारा चेहरा यकायक ज़र्द क्यों पड़ गया?

औरंगज़ेब—बहन, तुम यहाँ कहाँ?

जहा०—मैं यहाँ क्यों आई—यह बात औरंगज़ेब, आज इस तख़्त

पर मज़े से बैठकर इन्सान की आवाज़ में पूछने की ताब तुम में है? औरंगज़ेब, मैं यहाँ आई हूँ बादशाह से बग़ावत करने के तुम्हारे जुर्म की नालिश करने।

औरंग०—किससे।

जहा०—ख़ुदा से? ख़ुदा नहीं है, यह तुमने सोच रखा है औरंगज़ेब?

औरंग०—मैं यहाँ बैठकर उसी ख़ुदा की फ़क़ीरी कर रहा हूँ।

जहा०—चुप रहो! ख़ुदा का पाक नाम अपनी ज़बान से न लो। ज़बान जल जायगी। बिजली और तूफ़ान, भूचाल और बाढ़, आग और मरी!—तुम लाखों बेगुनाह औरत मर्दों के घर उड़ा-उड़ा कर, तोड़-फोड़कर, बहाकर, जलाकर तबाह करके चले जाते हो। सिर्फ़ ऐसे ही लोगों का कुछ नहीं कर सकते।

औरंग०—मुहम्मद! इस पागल औरत को यहाँ से ले जाओ। यह दरबार है, पागलख़ाना नहीं। मुहम्मद!

जहा०—देखूँ, इस दरबार में किसकी मजाल है कि बादशाह शाहजहां की लड़की के बदन में हाथ लगाए। वह चाहे औरंगज़ेब का लड़का हो और चाहे शैतान ही हो।

औरंग०—मुहम्मद! ले जाओ!

मुहम्मद—माफ़ कीजिए अब्बाजान! मेरी इतनी मजाल नहीं।

जसवन्त—बादशाहज़ादी के ऐसे बर्ताव को हम नहीं सह सकते।

और सब—कभी नहीं।

औरंग०—सच है ! मैं गुस्से में कैसा अन्धा हो गया था। अपनी बहन, बादशाह शाहजहाँ की बेटी से ऐसा बर्ताव करने का हुक्म दे रहा था। बहन ! महल में जाओ ! इस आम दरबार में सैकड़ों बुरी नज़रों के सामने खड़ा होना मुनासिब नहीं। बादशाह शाहजहाँ की लड़की को यह नहीं सोहता।"

हर्ष का विषय है कि श्री जयशंकरप्रसाद जी ने अपने नाटकों में पद्य का प्रयोग नहीं के बराबर किया है। उन्होंने इस अस्वाभाविकता को भली-भांति समझकर पद्य का प्रयोग प्रायः वहीं किया है, जहाँ कोई प्रार्थना अथवा संगीत है। अजातशत्रु में पद्य की कुछ भूलें अवश्य हैं। हिन्दी के अन्य नाटककारों को भी इस आदर्श-पथ का पथिक बनना चाहिए।

अब मुझे अभिनय के विषय में कुछ कहना है। अभी तक हमारा रंग-मंच अच्छे अभिनेताओं से सूना है। उसका एक कारण है। भारतवर्ष का सभ्य-समाज मंच को निकृष्ट स्थान समझता है और वहां उन्हीं लोगों की कल्पना करता है जो ज्ञान से रहित हैं। एक धार्मिक कथा है, जो किसी समय "कैलकटा रिव्यू" (Calcutta Review) में प्रकाशित हुई थी। उसका सार यह है कि नाटक की प्रारम्भिक अवस्था में गंधर्वों और अप्सराओं ने किसी प्रहसन में ऋषि-मुनियों का मजाक उड़ाया था। इस पर ऋषियों ने क्रोध में आकर अभिनेताओं को शाप दिया कि तुम समाज में अपमानित होकर नीची श्रेणी पाओ और शूद्रों के समकक्ष बने रहो ! इसी कथा पर विश्वास

रखकर शायद समाज अच्छे-अच्छे पुरुष-रत्न मंच पर नहीं भेजना चाहता। किन्तु अब समय की गति बदल रही है। नाटक-कला का आदर चारों ओर हो रहा है। अभिनेताओं का सम्मान संसार में आश्चर्य की वस्तु है। अभी उस दिन प्रसिद्ध हास्य-अभिनेता चार्ली चेपलिन को संसार के सबसे बड़े आदमियों में परिगणित किया गया था। ऐसी स्थिति में जब संसार नाट्य और मंच-कला में आगे बढ़ रहा है, तब केवल हिन्दी संसार ही क्यों पीछे रहे ? अब समाज को अपनी विचार-धारा दूसरी ओर मोड़ लेनी चाहिए। उसे भी संसार के मंच पर अपने कलाकार उत्कृष्ट अभिनेताओं को भेजना चाहिए। पाश्चात्य देशों ने तो इस कला को सिखाने के लिए ट्रेड यूनियन की तरह संस्थाएं स्थापित कर ली हैं और बाजार के नियमों की भांति जितनी अभिनेताओं की मांग होती है उतनी पूर्ति वे लोग करते हैं। ऐसा करने से इस व्यवसाय का महत्त्व कम नहीं होने पाता। हिन्दी मंच में भी जिस दिन इस माँग की पूर्ति होगी वह दिन हिन्दी मंच की उन्नति का पहला दिन होगा।

हिन्दी मंच पर एक बात की और भी कमी है और वह यह कि स्त्रियां नाट्य-कला में भाग नहीं लेतीं। प्राचीन समय में स्त्रियां बराबर भाग लेती थीं। गन्धर्वों के साथ अप्सराएं भी नृत्य और गान करती थीं, किंतु इस समय मंच पर पुरुष ही स्त्री का काम चला लेते हैं। वे ही स्त्री-रूप में आकर भाव-भंगियां दिखलाकर अपने पुरुष-पन के प्याले में स्त्री-पन की सुकुमार शराब

हेनरी हडसन के अनुसार चरित्र-चित्रण के दो मुख्य प्रकार हैं। प्रथम वह जिसे प्रत्यक्ष अथवा विश्लेषणात्मक कह सकते हैं। इस में लेखक स्वयं दूर रह कर पात्रों का चित्र खींचता है। वह उनके मनोवेगों, प्रेरणाओं तथा विचारों का विश्लेषण करता है और बहुधा उन पर अपनी सम्मति भी देता है। दूसरा वह जिसे परोक्ष अथवा नाटकीय कह सकते हैं। इसमें वह स्वयं पात्रों से अलग रहता है। पात्र स्वयं अपने कथन और व्यापार से अपने चरित्र की अभिव्यक्ति और एक दूसरे के चरित्र का पोषण और समर्थन करते हैं। कहानी के लिए यह दूसरी प्रणाली अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इससे पात्रों की सजीव सत्ता का प्रमाण मिलता है।

कथोपकथन

सजीव कथोपकथन के बिना पात्रों का चरित्र पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आता। कहानी को रोचक बनाने के लिए, पात्रों में शक्ति का संचार करने के लिए कथोपकथन एक ओजस्वी साधन है। कथोपकथन सरल, संयमित, प्रासंगिक और स्वाभाविक होना चाहिए। भाषा और विचार अवश्य ही पात्रों के मानसिक धरातल के अनुसार होने चाहिएं, अन्यथा सारा संवाद कृत्रिम प्रतीत होने लगेगा। पात्र अपनी शक्ति और सत्ता खो कर केवल लेखक के इशारे पर नाचने लगेंगे।

An Introduction to the Study of Literature P. 192.

शैली

कहानी की सामग्री कितने ही प्रयास से क्यों न जुटाई गई हो, जब तक उसे यत्नपूर्वक सजाकर समुचित ढंगसे उपस्थित नहीं किया जायगा उसका यथेष्ट प्रभाव नहीं हो सकता। लिपि-बद्ध करने से पहले जरूरी है कि लेखक कहानी में आने वाली घटनाओं से रूप, पात्रों की मानसिक स्थिति और क्षमता, वातावरण और कथानक के भीतर प्रस्फुटित होने वाले अन्य अनेक तत्वों पर भली प्रकार अपने मन में विचार कर ले। सारी सामग्री पर अधिकार कर लेने के अनन्तर ही लिखने का प्रयत्न करना चाहिए। शैली में प्रसाद गुण बहुत ही आवश्यक है। भाषा की सरलता और स्पष्टता के बिना पाठक उलझ जाता है और रोचकता जाती रहती है। भाषा में यथासमय और यथास्थान उचित मुहावरों का प्रयोग करना चाहिए। सरल अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग से भी भाषा में स्पष्टता और सामर्थ्य बढ़ती है। शैली की हृदय-स्पर्शिता पर ही कहानी की सफलता निर्भर है।

कहानी कहने के कई ढंग हैं। सर्वप्रथम वर्णनात्मक अथवा ऐतिहासिक पद्धति है। इसमें लेखक एक दर्शक की भांति घटनाओं और पात्रों का चित्रण करता है। श्री प्रेमचन्द और सुदर्शन जी की अधिकांश कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। दूसरी आत्म-कथा पद्धति है। इसमें लेखक किसी एक पात्र के साथ एकरस होकर उत्तम पुरुष में कहानी कहता है। यह कहानी जीवनी के रूप में सामने आती है। अज्ञेय जी की 'अमर वल्लरी' इस प्रकार का

है। तीसरी कथोपकथन की पद्धति है। इसमें सारी कहानी संवाद रूप से ही दी जाती है। उदाहरणार्थ श्रीद्विज की 'मोक्ष की भिक्षा'। चौथी है पत्र पद्धति। इसमें कहानी एक अथवा अनेक व्यक्तियों के पत्रों का संग्रह-मात्र होती है। पाँचवीं है वातावरण पद्धति। इसके अनुसार कहानी में प्रधान पात्र एक व्यक्ति न होकर सारा मुहल्ला अथवा समाज होता है, जैसे अहमदअली जी की 'हमारी गली'। इनके अतिरिक्त आजकल कुछ लेखक एक और पद्धति—जिसे मनोवैज्ञानिक पद्धति कह सकते हैं—का आश्रय ले रहे हैं। इसका ध्येय पात्र की चेतन, अर्धचेतन, अवचेतन मानसिक अवस्थाओं का चित्रण-मात्र है।

मुद्रक:—बालकृष्ण, एम. ए., युगान्तर प्रेस, मोरी गेट, देहली।

भरते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो परदा और दूसरा शिक्षा का अभाव। ये दोनों बातें पाश्चात्य समाज में नहीं हैं। अतएव वहां स्त्रियां स्वतन्त्रता-पूर्वक रंग-मंच पर आती हैं। हमें आशा है कि वह दिन शीघ्र ही आयगा, जब स्त्रियां भी अपनी सुकुमार-कला से हिन्दी रंग-मंच को गौरवान्वित करेंगी।

रंग-मंच का सम्बन्ध आधुनिक चित्रपट से बहुत निकट हो गया है। अतः उस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

इस सभ्यता और संस्कृति के युग में हिन्दी रंग-मंच का अस्तित्व ही नहीं है, हिन्दी वालों के लिए इससे अधिक अपमान की बात क्या होगी! हिन्दी नाटकों का प्रणयन रंगमंच की दृष्टि से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया था और सन् १८६८ में उन्होंने 'विद्यासुन्दर' की रचना की थी, किन्तु वह भी बंगला के उसी नाम के नाटक का ही अनुवाद था। आगे चलकर उन्होंने सत्य-हरिश्चन्द्र की रचना की थी, जो काशी में खेला भी गया था और स्वयं बाबू हरिश्चन्द्र ने हरिश्चन्द्र का अभिनय किया था। यद्यपि उनके नाटक आजकल के नाटक-नियमों की कसौटी पर कसे नहीं जा सकते। जो हो, उस समय हमारा रंग-मंच विकृत रूप में तैयार होने जा रहा था। भारतेन्दु जी के बाद राधाकृष्ण जी ने महाराणा प्रताप अथवा राजस्थान-केसरी की रचना भी नाटकीय तत्त्वों को दृष्टि में रखकर की थी। उनके बाद अन्य लेखकों ने भी इसी दिशा में प्रयत्न किया था पर उनके नाटक रंगमंच पर ठीक-ठीक उतर नहीं सके। इसका कारण यही

था कि हमारे हिन्दी-लेखकों में नाटक-रचना के विषय में भारतेन्दु जी के समान लगन नहीं थी और न उनके सामने हिंदी-रंगमंच का रूप ही तैयार था। जब लेखक स्वयं रंगमंच के स्वरूप से अपरिचित है तो उसके नाटकों का रंगमंच पर सफलता के साथ कैसे अभिनय किया जा सकता है, यह विचारणीय है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से अब तक और अनेक विद्वान् लेखकों ने भावपूर्ण सुन्दर नाटकों की रचना की है, पर उनके अनुशीलन से यही विदित होता है कि इनके लेखकों ने रंगमंच की आवश्यकताओं की तरफ़ बहुत कम ध्यान दिया है। जैसा मैं पहले कह चुका हूं हमारे यहां के नाटककार अपने यहां रंगमंच की सृष्टि करने में उत्सुक नहीं जान पड़ते और न वे रंगमंच के विशेषज्ञ ही होना चाहते हैं। उनके नाटक साहित्यिक दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं, भावनाओं के घात-प्रतिघात के मनोहर चित्र हैं, पर अभिनय से बहुत दूर। इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के शिक्षित छात्रों ने ऐसे नाटकों को सफलतापूर्वक अभिनय करने में कितना परिश्रम उठाया है, यह वही जान सकता है जिसने पहले नाटक पढ़कर अभिनय देखा है अथवा जिन्होंने स्वयं अभिनय में भाग लिया है। इन नाटकों को देखना भी दर्शकों के लिए किसी नीरस क्लास में बैठने के दंड से कम नहीं था—इसलिए कि दर्शकों की रुचि अभी रंगमंच के साथ साहित्यिक सौंदर्य देखने की नहीं है। वे अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी अथवा कोरिन्थियन कम्पनी में पर्दों के फटने तथा

असम्भव वस्तुओं को सम्भव होते हुए देखने के लिए विशेष उत्सुक हैं। वे रंगमंच पर तमाशा देखना चाहते हैं। हमारी रुचि बिगाड़ने का सारा भार इन पारसी कम्पनियों के सिर पर रखा जा सकता है, जिन्होंने अपने व्यवसाय के सामने हमारे यहां के रंगमंच की वास्तविक सृष्टि होने का अवसर ही नहीं आने दिया।

जब हमारे पास न अपना रंगमंच है और न दर्शकों की रुचि में ही संस्कृति है, उस समय हमारे सामने चित्रपट किसी तूफ़ान की तरह आता है। जनता की आंखों में इस चल-चित्र का नशा छा जाता है और वे नाटक-घरों में न जाकर सिनेमा-घरों की ओर अपने पैर बढ़ा देते हैं। हमारी जनता तो मनोरंजन चाहती है, उसके साथ जीवन के आदर्श नहीं। इस रुचि की थाह पाकर बहुत-सी कम्पनियां ऐसे चित्रपट बनाने में प्रवृत्त होती हैं, जिनसे केवल मनोरंजन-प्रिय जनता की इच्छा-पूर्ति होती है। इन परिस्थितियों में हमारे चित्रपट पारसी थियेटरों के अनुवाद हो जाते हैं और उनमें वही असम्भव बातें दिखलाई जाती हैं, जो थियेटरों की प्रिय घटनाएँ हैं। इस प्रकार चित्रपटों ने थियेटरों के पर्दों का अनुसरण कर हमारी जनता की रुचि और भी निकृष्ट कर दी और उन्हें अधिक विलासी बना दिया है। यह संक्षेप में हमारे अधिकांश चित्रपटों का परिचय है।

रंगमंच के इतिहास में चित्रपट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि हम चित्रपट को रंगमंच का अमर रूप कहें तो अतिशयोक्ति

नहीं होगी। रंगमंच पर जो दृश्य दिखलाये जा सकते हैं, वे अपना अस्तित्व परिमित समय अथवा निश्चित स्थान तक ही रख सकते हैं। पात्र भी एक ही प्रकार का अभिनय सदैव नहीं कर सकते। किन्तु चित्रपट एक बार किये गये दृश्यों को भविष्य के लिए भी सुरक्षित रख सकता है। पात्रों के एक बार के अभिनय को सौ बार उसी भांति दिखला सकता है। अतएव चित्रपट रंगमंच के पात्रों एवं कार्यों को अमरत्व प्रदान कर देता है। आज सर्वश्रेष्ठ सुन्दर नट 'रुडोल्फ वैलंटिनो' जीवित नहीं है, किन्तु 'ब्लैक ईगल' में हम अब भी उसका अभिनय देख सकते हैं। उसको जीवितावस्था में देखकर प्रसन्न हो सकते हैं और कुछ क्षणों के लिए हम वैलंटिनो के साथ इस प्रकार मनोरंजन में मस्त हो जाते हैं जैसे दुनिया अब भी उसी प्रकार है और वैलटिनो अब भी जीवित है।

इस परिस्थिति में चित्रपट का मूल्य रंगमंच से बहुत अधिक हो जाता है। चित्रपट एक अमर सन्देश वहन कर सकता है, जो युग-युगान्तर तक हमें हमारी परिस्थितियों से परिचित करा सकता है। प्रत्येक समय वह हमारे हृदय में नव-जीवन संचार कर सकता है और हमें उन्नति की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य कर सकता है। चित्रपट का महत्त्व कितना अधिक हो जाता है, जब हम यह सोचते हैं कि मनोरंजन के साथ उपदेश देने की क्षमता चित्रपट ही में है। माता यदि अपने बच्चे से सच बोलने के लिए कहे तो शायद बच्चा यह बात न माने।

किन्तु यदि माँ मिठाई देते हुए कहे—'बच्चे, यह मिठाई लो और सच बोलो' तो बच्चा दौड़कर मिठाई लेते हुए कहेगा—'माँ, अब मैं झूठ क्यों बोलूंगा ?' चित्रपट की शक्ति यही मिठाई वाली माँ है जो हमें सच बोलने के लिए बाध्य कर सकती है। उपदेश की नीरसता चित्रपट में सरसता बन जाती है और हमारी भावनाएँ अपनी शक्ति से उठकर सच्चे पथ की ओर अग्रसर हो जाती हैं। मनोरंजन वह पारस है, जिससे उपदेश का लोहा सोना बनाया जा सकता है।

रंगमंच से चित्रपट में एक और विशेषता है। रंगमंच में स्थान की संकीर्णता और पात्रों के कार्य करने की अस्वच्छन्दता, दूरी दिखलाने की असमर्थता, स्थल-परिवर्तन की अस्वाभाविकता बनी रहती है। चित्रपट इन सब अभावों के हटा देने में समर्थ हो गया है। स्थान की विभिन्नता, मीलों फैले हुए मनोहर दृश्य, पात्रों के कार्य-क्षेत्र की पूर्ण स्वच्छन्दता और कार्य-संपादन की स्वाभाविकता चित्रपट में जीवन का आभास ला देती है। इसी जीवन के आभास में मन इस प्रकार भूल जाता है जैसे वह स्वयं उसी कार्य में व्यस्त हो। उसके साथ जीवन नाचता हुआ आता है और उसे छूकर भाग जाता है। वह उस समय इतना लीन हो जाता है मानो वह अपने ही जीवन की कोई घटना देख रहा हो और उसमें वह स्वयं एक आवश्यक व्यक्ति हो। मनुष्य इस समय अपने को भूला रहता है और यही समय है जब उसके हृदय में कोई भावना उठाई जा सकती है। उपदेशक को तो पहले श्रोता का ध्यान

अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ता है। जब श्रोता उपदेशक में विश्वास रख उसकी बात सुनने के लिए तत्पर हो जाता है तब कहीं उपदेशक के लिए यह अवसर आता है कि वह अपने विचार उसके हृदय तक पहुंचावे। चित्रपट को तो मनुष्य का हृदय आकर्षित करने में कुछ परिश्रम ही नहीं पड़ता। मनुष्य तो मन्त्र-मुग्ध से (hypnotised) ही हो जाते हैं और इसी अवस्था में उन पर अधिक-से-अधिक प्रभाव डाला जा सकता है।

इन सब बातों को ध्यानपूर्वक समझने से हमें ज्ञात हो जाता है कि चित्रपट-निर्माता का कर्त्तव्य कितना कठिन है। किंतु हम देखते हैं कि भारतवर्ष में चित्रपट के संचालकों के हृदय में अपने कर्त्तव्य के लिए अणु-मात्र भी ध्यान नहीं है। वे आदर्शों और शिक्षा के क़ायल नहीं हैं। वे चित्रपट के निर्माण करने में केवल इसी का ध्यान रखते हैं कि अमुक चित्रपट से वे साधारण जनता की वासनामयी प्रवृत्ति को गुदगुदा कर उनसे कितना रुपया वसूल कर सकते हैं। इसीलिए वे सदैव ऐसी कहानी चाहते हैं जो साधारण दर्शकों की रुचि को अपनी ओर आकर्षित कर सके। दुर्भाग्य से भारतीय जनता की रुचि अभी इतनी परिष्कृत नहीं हुई है कि वह सराहनीय वासना के उद्दाम वेग से कलुषित चित्रपट का बहिष्कार कर सके। इस कमज़ोरी का अनुचित लाभ उठाकर चित्रपट-निर्माता धन-कुबेर बनना चाहते हैं। उनसे राष्ट्र अथवा जाति-गौरव के ध्यान की आशा रखना

मृग-जल से पानी की आशा रखने के समान है। उनकी इस कुरुचिपूर्ण नीति का एक कारण और हो सकता है और वह यह कि उन्हें एक चित्रपट पर कई हज़ार रुपये खर्च करने पड़ते हैं। अतएव वे अपने चित्रपट को उसी विषय के रंग में रँगेंगे जो विषय जनता की रुचि के अनुकूल सिद्ध हो चुका है और जिसके कारण इन्हें अपना धन वापस मिल जाने की आशा है। धन खो जाने की आशंका से वे (जनता की रुचि को जानते हुए भी) अपने चित्रपट को किसी नये विषय के प्रयोग का साधन नहीं बनावेंगे। यदि विषय जनता की रुचि के अनुकूल न हुआ तो फ़िल्म किसी भी सिनेमा-गृह में तीन दिन से अधिक चल ही नहीं सकती और दर्शकों की संख्या भी उजड़ते हुए वसन्त के फूलों के समान ही इधर-उधर न्यून संख्या में होगी। यही कारण है कि वे अपने चित्रपट का वही विषय रखेंगे जिसके बारे में यह निश्चय हो जायगा कि यह विषय चल निकलेगा। पाश्चात्य निर्माताओं के समान वे मनोवेगों के विविध रूपों के अध्ययन करने का न तो प्रयत्न ही करते हैं और न यही चाहते हैं कि उनके चित्रपट के लेखक मनोविज्ञान के विशेषज्ञ या उच्च श्रेणी के उपन्यासकार या कहानी-लेखक हों। वे तो सस्ती कहानी चाहते हैं। यह स्वार्थान्धता वास्तव में अक्षम्य है। वे यह नहीं जानते कि जनता की रुचि और चरित्र को बिगाड़ने या सुधारने की कितनी बड़ी जिम्मेदारी उनके हाथों में है। जनता की रुचि और चरित्र क्या है? राष्ट्र के भाग्य-निर्माण अथवा उसके

कारुणिक पतन की आधारभूत शक्ति। यदि इसी शक्ति की उपेक्षा कर दी गई तो फिर जातीय-जीवन का विषय भविष्य में बहुत अनिश्चित हो सकता है। किन्तु इस महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से सम्भवतः कोई चित्रपट-निर्माता अपने चित्रपट को नहीं देखता। यह भयानक भूल, जो सहस्रों व्यक्तियों के जीवन को तराजू के कांटे के समान अनिश्चित दिशा की ओर उन्मुख कर सकती है, चित्रपट-निर्माताओं के मनोरंजन की सामग्री है। यह कितने क्षोभ की बात है।

चित्रपट निर्माण करने में लेखकों की ओर भी डायरेक्टरों को ध्यान देना उचित है। पाश्चात्य देशों में लेखकों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। वहां तो चित्रपट के लिए साधारण कहानी-लेखकों को २०० पाउण्ड मिल जाते हैं। ब्रिटिश इंटरनेशनल पिक्चर्स (British International Pictures) तो लेखकों और अभिनायकों का एक ही प्रकार से सम्मान करता है। हां, एक बात अवश्य है। डायरेक्टर अपने चित्रपट को अधिक नाट्यमय (Dramatic) बनाने के लिए कहानी में बहुत कुछ परिवर्तन कर देता है। फिर उसे साहित्यिक सौंदर्य की परवा नहीं रहती। उसे यह चिन्ता होती है कि कहानी को किस प्रकार मोड़ दे कि वह दर्शकों की आँखों में और भी अधिक कौतूहलजनक बन जावे। उस समय उसे कहानी-लेखक की आत्मा पर प्रहार करते समय किंचित् भी दुःख नहीं होता। जब कहानी-लेखक अपनी कहानी की फ़िल्म देखता है तो उसे

आश्चर्य हो जाता है कि "ओः मैंने तो इस पात्र से ऐसा काम करने की व्यवस्था ही नहीं की, यह कैसे हो गया ?" ऐसी परिस्थिति बड़ी भयानक होती है। यदि इस प्रकार के परिवर्तन से चित्रपट सफल हो गया तो लेखक का यश अनेक गुणा बढ़ जाता है और वह अयोग्य होने पर भी अन्य कम्पनी-डायरेक्टरों की दृष्टि में ऊँचा उठ जाता है। और यदि चित्रपट असफल हो गया तो उसका सुयोग्य लेखक भी अपना अर्जित यश खो बैठता है और फिर उसका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। डायरेक्टरों की यह परिवर्तन-प्रियता लेखकों के भविष्य जीवन की खिलवाड़ ही समझी जानी चाहिए। उनके व्यवसाय की संकुचित दृष्टि लेखकों की शक्ति का असत्य प्रचार कर सकती है। हाल ही में एक प्रसिद्ध फ़िल्म कम्पनी के एक फ़िल्म के निर्माण में यही बात हुई। डायरेक्टर ने अपने मन के अनुसार कहानी और वार्तालाप में परिवर्तन किए, जिस पर बेचारे लेखक का कुछ भी अधिकार नहीं था। उसमें कुछ ऐसे असामयिक और असंगत गाने रखे गये जिनके विषय में लेखक को हस्तक्षेप करने का साहस ही नहीं था। वे गाने चाहे साधारण जनता की रुचि के अनुकूल भले ही हों, पर वे न तो सुरुचिपूर्ण ही थे और न सामयिक ही। इसी सम्बन्ध में लेखक ने एक पत्र दिल्ली से प्रकाशित होने वाले 'चित्रपट' के १ सितम्बर १९३३ के १४ वें अंक में प्रकाशित कराया है।

यह है लेखक की स्थिति। वह अपने अधिकारों के लिए लड़ भी नहीं सकता। इंगलैंड में लेखकों का स्वाभिमान कितना अधिक है। जान गाल्सवर्दी के 'जायल्टीज़' का चित्रपट बहुत वर्षों से स्थगित कर दिया गया है, क्योंकि उन्होंने एक अमेरिकन फ़र्म को, जिसने उस कृति को चित्रपट के लिए लिया है, फ़रडिनेंड डि लेविस को एक जैनटील बनाने से मना कर दिया है और सम्भवतः उसी प्रकार चित्रित की जायगी जिस प्रकार कि वह लिखी गई है। उसी प्रकार शा भी अपने नाटकों में परिवर्तन नहीं होने देंगे। एच० जी० वेल्स ने एक प्रतिन्यास लिखा था और यद्यपि वह स्पष्टतः अच्छा नहीं था, तथापि परिवर्तन करने के सिद्धान्त पर उसने चित्रपट की स्वीकृति नहीं दी। उसका अभी तक चित्रपट नहीं बन सका और वह वेल्स का लेखकों के प्रति उचित व्यवहार दिलाने की धारणा का स्मृति-चिह्न है।

लेखक की लेखनी भी साहित्य और देश की अनेक समस्याओं के हल करने का भार वहन करती है। वर्तमान लेखक-समुदाय अंग्रेज़ी चित्रपटों के चरित्रों की चोरी कर अपनी कहानी का निर्माण करते हैं अथवा लैला-मजनूं, शीरीं-फ़रहाद, गुलबकावली, जैसी बासी और पुरानी कहानियों को फिर से जनता के सामने लाना चाहते हैं, जिनसे देश और समाज का एक इञ्च-भर भी लाभ नहीं हो सकता। नवयुग और देश के भावी स्वर्णयुग में इस वासनात्मक प्रेम की क्या ज़रूरत है, यह उनका हृदय जाने। अधिक-से-अधिक किसी पौराणिक

कथा का चित्रण कर दिया जाता है, जिसमें धर्म की अन्धी भावना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता। इससे कूपमंडूकवत् जनता के हृदय में भले ही कुछ क्षण के लिए सजीवता आ जावे, किन्तु इससे नवयुग के निर्माण में सहायता नहीं मिल सकती। हम तो अपने लेखकों से यह आशा रखते हैं कि वे भारतीय मनोवृत्ति का ऐसा सुन्दर चित्र हमारे सामने रखें, जिसमें भारत के प्रत्येक व्यक्ति में जीवन आ जावे—ऐसा जीवन नहीं जो क्षणिक हो, पर ऐसा, जिसमें क्रियात्मक शक्ति का आविर्भाव हो। धार्मिक अन्ध-परम्परा को त्याग कर लेखकों की लेखनियां वास्तविक जीवन के संघर्ष को चित्रित करें। गरीबों की भूखी आत्माओं में उतर आवें और विलासमय जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर दें। हमारे नेत्रों के सामने ऐसी समस्याएं आ जावें जिन्हें हल करने के लिए हम अपने जीवन का उत्सर्ग कर दें। ऐसे चित्रों का निर्माण हो जिनमें भारतवर्ष का गौरव संसार-प्रसिद्ध हो जावे—भारतवर्ष का भी नाम प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के मुख पर हो। चाहे संसार हमें पराधीन जाति देखे, किन्तु वह इसका अनुभव अवश्य कर ले कि हममें जीवन है और अनुचित जीवन के विरुद्ध लोहा लेने की ताक़त है! वास्तव में सच्चे चित्रपट वे ही हैं जो वास्तविक जीवन में उठने वाली समस्याओं के प्रश्नों का उत्तर देते हैं।

इसके बाद अभिनेता की जिम्मेदारी है। अभिनेताओं को सर्वप्रथम अपने को भारतीय संस्कृति का एक अभिभावक समझ

कर रंगमंच पर उतरना चाहिए। चित्रपट का मुख्य विषय प्रायः प्रेम-कथाओं से ही सम्बन्ध रखता है। इसीलिए अभिनेताओं को आलिंगन और चुंबन की बान-सी पड़ी रहती है। बालकों अथवा युवकों पर इसका क्या प्रभाव पड़ सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि नायकों की इस उच्छृङ्खलता ने संभ्रान्त घर की स्त्रियों को रंग-मंच पर आने से रोक रक्खा है। अजंता के चित्रपट अफ़ज़ल के पुनर्चित्रण का रहस्य इस घटना में निहित है। जैसे ही कोई उच्चशिक्षित संभ्रान्त महिला इस वातावरण को देखती है, वह निराश होकर रंगमंच को ठोकर मार कर चली जाती है।

अभिनेता में सर्वप्रथम तो स्वाभाविकता होनी चाहिए। उस का अभिनय स्वभावानुकूल तथा संयत हो। हाथ-पैर फेंकने की अपेक्षा उसके मुख पर भावाकृति का प्रदर्शन अधिक अपेक्षित है। हमारे यहां के अभिनेता या तो पाश्चात्य अभिनेताओं की नक़ल करते हैं अथवा रंगमच पर आवश्यकता से अधिक उछल-कूद मचाते हैं। एक पात्र का दस आदमियों से भिड़ जाना और उन सबको पीट कर साफ निकल जाना अथवा बिना मतलब के दस फ़ीट ऊपर कूद जाना और अनेक तरह की कला-बाजियां दिखलाना—इस प्रकार की अस्वाभाविक बातों से जनता का मनोरंजन किया जाता है। डगलस फेयर बैंक्स ने 'दी थीफ़ ऑफ़ बग़दाद' में इस तरह का खेल कभी दिखलाया था, बस एक बार ही उसकी नक़ल हिन्दुस्तान में की जाने लगी। अधिकांश चित्र-

पटों में 'दी थीफ़ ऑफ़ बग़दाद' की छाया आ गई और मास्टर बिट्ठल इण्डियन डगलस के नाम से पुकारे जाने लगे। यह हमारी मौलिकता का नमूना है।

हमारे अभिनेताओं को गाने का बड़ा शौक है। बात-बात पर गाते हैं। बातचीत के दो मिनट भी शायद उन्हें कठिन जान पड़ते हैं। दो पात्र बातचीत कर रहे हैं। कुछ बात होने पर एक ने स्वर छेड़ा तो दूसरा कब चुप रह सकता है। उसने भी गाना समाप्त होते ही अपना गाना प्रारम्भ कर दिया और गाने भी 'सांवलिया तिरछी नजरिया' वाले ढंग के। 'सती अनुसूया' चित्रपट इसका साक्षी है। 'अयोध्या का राजा' (King of Ayodhya) में राजा भी अपने मुसाहबों के बीच में गाने लगता है। मानो राजा की अपनी कोई मर्यादा ही नहीं है। शायद अभिनेता समझते हैं कि जनता गाना ही मांगती है। गाना, गाना, गाना। हर्ष की बात है कि अब यह प्रवृत्ति कम हो रही है।

हमारे अभिनेता चित्रपट के लिए क्या तैयारी करते हैं? प्रसिद्ध हास्य-रसाभिनेता चैपलिन के विषय में प्रसिद्ध है कि वह यह निश्चित करने के पूर्व कि उसका चित्रपट किस विषय का होगा, पहले सारे संसार में एक वर्ष तक घूम लेगा। हमारे यहां इतना बड़ा अभिनेता न तो है ही और न कोई कम्पनी अपने अभिनेता को इतनी स्वतन्त्रता ही दे सकती है। किन्तु तो भी अभिनेता का कार्य इतना सरल नहीं है जितना कि हमारे यहां के अभिनेताओं ने समझ रक्खा है। एक तो लेखक की मनोवेगों

के क्षेत्र में अनुभव-हीनता और दूसरे चित्रपट-निर्माताओं की व्यावसायिक दृष्टि ने अभिनेताओं को भी अकर्मण्य बना रक्खा है। किसी विशेष परिस्थिति में हृदय की क्या दशा होती है, प्रेम घृणा में कैसे परिवर्तित होता है। प्रसन्नता में उदासी किस प्रकार छा जाती है, युद्ध में स्त्री की भावना से कैसे शिथिलता आती है, इनके अध्ययन तथा भावभंगी की न्यूनता ने हमारे चित्रपट को स्वाभाविकता से बहुत दूर फेंक दिया है। हमारे चित्रपट जीवन के चित्र नहीं, वे हैं हमें हँसाने अथवा बहलाने के लिए चलते-फिरते तमाशे।

अब हम चित्रपट के भविष्य के विषय में कुछ अपेक्षित बातों का निर्देश करेंगे। चित्रपट का पहला कार्य तो यह होना चाहिए कि वह देश में ऐक्य की भावना का प्रचार करे। जितनी भी जातियाँ अथवा सम्प्रदाय देश में हैं, उनमें संगठन का सूत्रपात करो। हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का बीज कहीं भी अंकुरित न होने पावे, प्रत्युत इस प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न की जाय कि हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक सहायता करते हुए अपने स्वार्थों का बलिदान कर सकते हैं। इसी भावना से देश में ऐक्य का प्रचार हो सकता है और चित्रपटों से इसका प्रचार जिस सुगमतासे हो सकता है उतना अन्य किसी साधन से नहीं।

चित्रपट के द्वारा हिन्दी का प्रचार देश के कोने-कोने में हो सकता है और इसी साधन से हिन्दी सरलतापूर्वक राष्ट्रभाषा हो सकती है। दुःख है कि चित्रपटों में जिस भाषा का प्रयोग किया

जाता है वह न तो हिन्दी ही है और न उर्दू ही। जहां हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जाता है वहां उच्चारण की इतनी भूलें होती हैं कि उन्हें सुनकर हंसी आती है। 'प्रणाम' का 'परणाम' 'प्रचार' का 'परचार' तो साधारण दोष हैं, पर जहां 'ब्रह्म' का 'भ्रम' हो जाता है वहां हिन्दी की क्या दशा हो जाती है! यह आवश्यकता नहीं है कि साहित्यिक हिन्दी का प्रयोग ही वार्तालाप में किया जाय, स्वाभाविक रूप में हिन्दुस्तानी या सरल हिन्दी का प्रयोग समीचीन होगा। पर यह निश्चय है कि यदि चित्रपट हिन्दी भाषा के प्रश्न को अपने हाथ में ले और उसका शुद्ध रूप में प्रचार करे तो राष्ट्रभाषा का प्रश्न सहज ही में हल हो सकता है।

चित्रपट के द्वारा हम अपने संगीत और नृत्य को पुनर्जीवित कर सकते हैं। गान और नृत्य में हमारे यहां जो कला है वह संसार को मुग्ध कर सकती है। श्रीमती रागिनीदेवी और उदय-शंकर ने इस सत्य को प्रमाणित कर दिया है। दुर्भाग्य से गान और नृत्य का सम्बन्ध हमारे यहां सुशिक्षित समाज से टूट गया है और वह समाज के किसी अपवित्र कोने में ही केन्द्रित हो गया है। अपनी उस उच्च कला में फिर से जीवन लाना अब हम लोगों का कर्त्तव्य है। चित्रपट में उच्चकोटि के गान और कलायुक्त नृत्य की सृष्टि कर हम अपने समाज का ध्यान इस ओर फिर आकर्षित कर सकते हैं।

चित्रपट के द्वारा हम भारत का सच्चा चित्र खींचकर जनता के सामने रख सकते हैं। ग्राम्य-जीवन की कठिनाइयां, ग़रीबों की

उदर-ज्वाला, किसानों की सहायता, धनियों का अत्याचार, विधवाओं की करुणामय दिनचर्या, वृद्धों का वासनामय विलास, यह सब हम दो घंटे में जनता के हृदय तक पहुंचा सकते हैं। जनता समझ जाय कि देश किस ओर जा रहा है, गाँवों को हम किस प्रकार सुधार सकते हैं, हरिजनों को हम कैसे सुखी कर सकते हैं, आदि-आदि। देश को एक बार फिर से पता अगृह-प्रबन्ध करने की आवश्यकता है और यह चित्रपट द्वारा बहुत सुगम है।

चित्रपट-निर्माताओं ने हमारे यहां के उपन्यासकारों और कहानी-लेखकों को अभी तक बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। उन्होंने हमारे कलाकारों को इस योग्य समझा ही नहीं कि वे भी चित्रपट के योग्य हैं। इसलिए हमारे चित्रपट में हमें कोई जीवन का अच्छा चित्र देखने को नहीं मिलता। हर्ष की बात है कि इस क्षेत्र में भी अब आशा का प्रभात उदय हो रहा है।

—(डॉ० रामकुमार वर्मा)

: १० :

कहानी

(प्रोफ़ेसर सरनदास भनोत)

कहानी की कहानी बड़ी लम्बी और पुरानी है। जब से मानव ने दूसरों पर अपने विचार अभिव्यक्त करने की शक्ति प्राप्त की तब से कहानी का जन्म हुआ। अपनी कहने और दूसरों की सुनने, समझने और समझाने की उत्सुकता में ही कहानी की प्रेरणा निहित है। विश्व-भर के प्राचीनतम साहित्य में कहानी के किसी-न-किसी रूप की सत्ता अवश्य है। हमारे ब्राह्मण ग्रन्थ और उपनिषद् अनेक दृष्टान्तों से भरे पड़े हैं, जो एक प्रकार से छोटी-छोटी कहानियां ही हैं। महाभारत में कहानियों की भरमार है। बौद्ध और जैन साहित्य में भी कहानियों का अभाव नहीं। परन्तु साहित्य के जिस कलामय रूप के लिए आजकल कहानी शब्द का प्रयोग किया जाता है वह हमारे साहित्य में अभी नई चीज़ है। इसका अधिक प्रसार पिछले २५–३० वर्षों से ही हुआ है। इस प्रकार का बहुत-कुछ श्रेय यूरोप और अमेरिका के साहित्यिकों को है, अर्थात् हिन्दी

साहित्य में कहानी का वर्तमान स्वरूप अधिकांश में पश्चिम की देन है।

कहानी-साहित्य की लोक-प्रियता

अवस्था में छोटे होते हुए भी इस तरुण साहित्य की पकड़ बड़ी गहरी है। थोड़े ही समय में इसने साहित्य-जगत् में एक अन्यतम स्थान प्राप्त कर लिया है। इस लोकप्रियता के अनेक कारण हैं। सबसे प्रमुख है आजकल के जीवन की व्यस्तता, जिसके कारण लोगों के पास इतना अधिक समय ही नहीं कि वे लम्बे उपाख्यानों तथा उपन्यासों के पन्ने उलटते रहें। उन्हें तो संघर्षमय जीवन के धन्धों से ऊबे हुए मन को बहलाने के लिए कोई सरल, रोचक और हल्का-सा साधन चाहिए। छोटी कहानी इस प्रकार का अत्यन्त सुलभ और उत्तम साधन है। थोड़ा-सा अवकाश मिलने पर हर स्थान पर हर पढ़ा-लिखा मनुष्य इस साधन का प्रयोग कर सकता है। चलती गाड़ी में अथवा गाड़ी की प्रतीक्षा में बैठे हुए रेलवे-स्टेशन के प्लेटफार्म पर, बसों के अड्डों पर अथवा जहां कहीं भी घंटे-आध-घंटे का अवकाश मिल जाय इस मनोरंजक सामग्री से लाभ उठाया जा सकता है। नाटक और उपन्यास भी मनोविनोद के बहुत उत्कृष्ट साधन हैं, पर उन दोनों के लिए अधिक समय चाहिए और अधिक पैसा। जन-साधारण के पास दोनों की कमी है। पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार ने भी कहानियों के प्रचार में बड़ी सहायता

दी है। इनके द्वारा कथा-साहित्य सहज में सस्ते दामों जनता तक पहुंच जाता है। पत्रिका की एक ही प्रति में और-और समाचार-सामग्री के साथ एक छोटी कहानी बड़ी आसानी से समा जाती है। उपन्यास और नाटक को यदि इसी उपाय द्वारा जनता तक पहुंचाने का यत्न किया जाय तो अनेक बार क्रमशः प्रकाशित करना पड़ता है, पाठक और लेखक दोनों की दृष्टि से इस प्रकार के प्रयत्न की असफलता स्पष्ट है।

एक सफल कहानी अवश्य ही सरल, सरस और सुबोध होती है। उसमें जीवन की संकुल समस्याएं जटिल रीति से उपस्थित नहीं की जातीं। उसमें पाठक के लिए कोई ऐसी नई उलझनें नहीं खड़ी कर दी जातीं जिनको सुलझाने के लिए उसे माथा-पच्ची करनी पड़े। उसमें कोरे उपदेशों की नीरसता और दर्शनों की दुरूहता नहीं होती। उसका उद्देश्य केवल मनोरंजन होता है। यदि कोई शिक्षा होती है तो पूर्णतः परोक्ष रूप से, जो सहज ही हृदय की गहराई तक पहुँच जाय। काया की परिमितता भी अनिवार्य है। वस्तुतः कहानी वह है जो एक ही बैठक में सुगमता से समाप्त की जा सके। यद्यपि केवल छोटी होने से ही कहानी कहानी नहीं बन जाती, उसमें कला की दृष्टि से और भी अनेक गुण अपेक्षित हैं; तो भी काया की संक्षिप्तता आवश्यक ही है। विश्व के कहानी-साहित्य में इनी-गिनी कहानियाँ ऐसी हैं, जिन्हें हम काया-सम्बन्धी इस नियम का अपवाद-स्वरूप समझ सकते हैं। मुख्यांश में कहानियों पर यह नियम पूर्णतः लागू ही समझना चाहिए।

कहानी और उपन्यास

मनोविनोद की सामग्री जुटाने में समान होती हुई भी कहानी उपन्यास और नाटक—दोनों से भिन्न है। पहले उपन्यास को लीजिए। उपन्यास और कहानी दोनों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है। एक दृष्टि से दोनों ही 'कहानी' हैं, एक बड़ी और दूसरी छोटी। पात्र, चरित्र-चित्रण तथा संविधान के प्रयोग कहानी और उपन्यास दोनों में ही हैं। प्रवाह और उद्देश्य की दोनों अपेक्षा रखते हैं। मूल तत्त्व दोनों में बहुत-कुछ एक-से हैं। ऐसी स्थिति में यदि कोई छोटी कहानी को उपन्यास का गुटका संस्करण अथवा उपन्यास को कहानी का परिवर्धित स्वरूप समझ ले तो आश्चर्य क्या है।

वस्तुतः कहानी और उपन्यास में केवल आकार का ही अन्तर नहीं; उद्देश्य, योजना, गठन और शैली आदि में वे एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। कहानी और उपन्यास का अन्तर बतलाते हुए हिन्दी के अमर कलाकार श्रीयुत प्रेमचन्द जी लिखते हैं:—

"उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है; आख्यायिका केवल एक घटना है—अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं। इस विचार से उसकी तुलना नाटक से की जा सकती है। उपन्यास में आप चाहे जितने स्थान लायं, चाहे जितने दृश्य दिखायं, चाहे जितने चरित्र खींचें; पर यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वे सब घटनाएं और चरित्र एक

ही केन्द्र पर आकर मिल जायं। उनमें कितने ही चरित्र तो केवल मनोभाव दिखाने के लिए ही रहते हैं, पर आख्यायिका में इस बाहुल्य की गुंजाइश नहीं; बल्कि कई सुविज्ञ जनों की सम्मति तो यह है कि उसमें केवल एक ही घटना या चरित्र का उल्लेख होना चाहिए। उपन्यास में आपकी कलम में जितनी शक्ति हो उतना जोर दिखाइये; राजनीति पर तर्क कीजिए, किसी महफिल के वर्णन में दस-बीस पृष्ठ लिख डालिए। (भाषा सरस होनी चाहिए); ये कोई दूषण नहीं। आख्यायिका में आप महफ़िल के सामने से चले जायंगे और बहुत उत्सुक होने पर भी आप उसकी ओर निगाह नहीं उठा सकते। वहां तो एक शब्द, एक वाक्य भी ऐसा न होना चाहिए, जो गल्प के उद्देश्य को स्पष्ट न करता हो। इसके सिवा कहानी की भाषा बहुत ही सरल और सुबोध होनी चाहिए। उपन्यास वे लोग पढ़ते हैं, जिनके पास रुपया है; और समय भी उन्हीं के पास रहता है, जिनके पास धन होता है। आख्यायिका साधारण जनता के लिए लिखी जाती है जिनके पास न धन है न समय। यहां तो सरलता में सरसता पैदा कीजिए, यही कमाल है। कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें गायक महफिल शुरू होते ही अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है, एक क्षण में चित्त को इतने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात-भर गाना सुनने से भी नहीं हो सकता।"

सारांश यह है कि उपन्यास में मानव, समाज अथवा दोनों का व्यापक चित्रण रहता है, कहानी में केवल एक मानव के जीवन के एक अङ्ग विशेष का। कहानी का उद्देश्य जीवन के किसी एक पहलू को प्रकाश में लाना है, न कि समूचे जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण और व्यापक प्रदर्शन करना। कहानी-लेखक किसी एक पात्र के जीवन की एक-मात्र महत्त्वपूर्ण घटना को लेकर चलता है; वह पात्र की जीवन-धारा उस विशेष घटना से पूर्व और पश्चात् किस दिशा में प्रवाहित हुई इसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उपन्यासकार के लिए अपने पात्रों की जीवन-धारा को संगत और क्रमबद्ध प्रदर्शित करना अनिवार्य है। कलेवर विशाल होने के कारण उपन्यास में रुचिरता के केन्द्र एक से अधिक हो सकते हैं, कहानी में केवल एक ही।

उपन्यास में घटना, पात्रादि लेखक के अनेक उपकरण बिखरे हुए-से रहते हैं। पराकोटि, चरम-सीमा (Climax) अथवा कथानक की तीव्रतम स्थिति की ओर वे धीरे-धीरे चलते हैं। बीच में अनेक स्थानों पर इस चरम सीमा के साथ सीधा सम्बन्ध न रखने वाले अनेक तत्त्व भी प्रविष्ट हो जाते हैं। उद्देश्य अथवा प्रभाव की एकता नहीं रहती। यह एकता कहानी-लेखक के लिए नितान्त आवश्यक है। उसको कहानी में कोई ऐसी सामग्री मिलाने का अधिकार नहीं, जिसका पराकोटि के साथ सीधा सम्बन्ध न हो। कहानी का प्रत्येक वाक्य निश्चित परिणाम की ओर संकेत करता होना चाहिए।

उपन्यास में पात्र, चरित्र-चित्रण और संविधान इन तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है; उपन्यासकार तीनों को पूर्ण मात्रा में प्रयोग में लाता है। कहानी में इन तीनों में से किसी एक की मुख्यता स्वीकार की जाती है, शेष दोनों अङ्ग केवल सहायक के रूप में रहते हैं।

दोनों के आदर्श में भी भेद है। श्री० एच० जी० वेल्ज का कहना है कि एक उपन्यासकार निष्पक्ष रहने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करे, वह अपने चरित्रों को किसी-न-किसी आदर्श की ओर संकेत करने से नहीं रोक सकता। वह पाठक के हृदय में विचार आरोपित करने से दूर नहीं रह सकता। उपन्यास के चरित्रों से किसी-न-किसी शिक्षा का मिलना स्वाभाविक और अनिवार्य है; परन्तु कहानी में यह अनिवार्य नहीं। कहानी से सूक्ष्म रूप से नीति और शिक्षा का प्राप्त होना कोई अक्षम्य दोष नहीं, पर शिक्षा देना कहानी का मुख्य उद्देश्य नहीं।

कहानी और नाटक

कहानी में अनेक नाटकीय उपकरणों का उपयोग किया जाता है। इनके बिना कहानी में हृदय-स्पर्शिता आ ही नहीं सकती। संवाद नाटक की जान है। कहानी भी कथोपकथन के बिना निष्प्राण-सी रहती है। कहानी और नाटक दोनों में लेखक का ध्यान एक क्षण-भर के लिए भी अपने निश्चित ध्येय की ओर से नहीं हट सकता। दोनों में केवल शृंगार के लिए किसी

भी सामग्री के लिए स्थान नहीं। जहां कहीं तनिक भी अना-वश्यक विस्तार हुआ घटनाओं के क्रम, गति और वेग में शिथिलता आ जाती है और कला की दृष्टि से सारा प्रयास असफल हो जाता है। वह कहानी और नाटक ही क्या, जिसमें से कोई अंश कथानक को बिना हानि पहुँचाए निकाला जा सके। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति के नाटक इसी दोष के कारण कला की दृष्टि से सफल नहीं कहे जा सकते। उनके 'उत्तररामचरित' में से यदि दूसरा और पांचवां दोनों अङ्क सारे-के-सारे भी निकाल दिये जायं तो भी कथावस्तु में किसी प्रकार की क्षति नहीं आती। काव्य की दृष्टि से इन अङ्कों का कुछ महत्त्व हो सकता है, नाटकीय दृष्टि से ये केवल भार-भूत हैं। इसी कारण से कुछ आलोचकों के मत में 'उत्तरराम-चरित' नाटक न होकर केवल नाटकीय काव्य रह जाता है।

उपन्यास की अपेक्षा कहानी और नाटक दोनों अधिक संयम की वस्तु हैं। दोनों को विविध उपायों द्वारा एक नियत समय के अन्दर तीर की तरह चरम सीमा के लक्ष्य की ओर बढ़ना होता है। वस्तुतः यह बात नाटक की अपेक्षा कहानी पर और भी अधिक कठोरता से लागू होती है। यहां तक हमने कहानी और नाटक के परस्पर मेल की चर्चा की है। अब कुछ मौलिक भेदों का वर्णन करते हैं।

कहानी किसी एक पात्र के जीवन की किसी महत्त्वपूर्ण घटना

की संक्षिप्त नाटकीय अभिव्यञ्जना* है, और नाटक अनेक पात्रों के विविध जीवन का विस्तृत प्रदर्शन। कहानी में एक पात्र के जीवन के बिन्दु-विशेष को उद्भासित किया जाता है, नाटक में एक से अधिक पात्र समान रूप से प्रमुख प्रकाश में आते हैं। उनमें पात्रों के क्रमबद्ध चरित्र-चित्रण का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इस दिशा में नाटक कहानी की अपेक्षा उपन्यास के और भी अधिक समीप है। कहानी छोटी होती हुई भी अपने परिमित कलेवर के अन्दर पूर्णता का भाव रखती है। उसे अन्य बाह्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं होती। नाटक अपेक्षाकृत विस्तार रखते हुए भी अपने-आपमें पूर्ण नहीं है। वह पूर्व-निश्चित प्रभाव की पूर्ण प्राप्ति के लिए अभिनय के साधनभूत अनेक बाह्य उपकरणों की अपेक्षा रखता है। कहानी पढ़ने की वस्तु है और नाटक देखने की। रंगमंच, दृश्यावली, पात्रों की वेश-भूषा और उनका अभिनय—इन सबका नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहानी के लिए ये चीजें अनावश्यक हैं। अब हमें कहानी के आवश्यक तत्त्वों पर संक्षेप से विचार करना है।

कथावस्तु

कहानी की घटनाओं और उनके सम्बन्ध से प्रकाश में आने

---

* Short story is a representation in a brief, dramatic form, of a turning point in the life of a single character.

James W. Linn

वाली पात्रों की क्रियाएं ही एक कहानी की कथावस्तु होती हैं। इन घटनाओं और पात्रों के व्यापार-समूह पर ही कहानी का अस्तित्व और विकास आश्रित रहता है, इस कथानक का संबन्ध जीवन के ऊपरी अस्तित्व के साथ न होकर उसकी उन गहरी अनुभूतियों से होता है जो देश-काल की सीमाओं से परे रहकर मानवता-मात्र की अन्यतम देन हैं। यद्यपि देश और काल-भेद से मानव के बाह्य जीवन में अन्तर रहता है, परन्तु अनन्त काल के आवरणों में से झांकती हुई मानवता सदा एक रही है और रहेगी। सर्वसाधारण मानव के स्थायी मनोवेगों, विचार-श्रृङ्खलाओं और भाव-संघर्षों के साथ सम्बन्ध रखने वाला कथानक ही स्थायी रोचकता का कारण हो सकता है। जिन परिस्थितियों को देखकर हम सदैव पास से निकल जाते हैं, जिन्हें हम देखते हुए भी वस्तुतः नहीं देखते, लेखक की पैनी दृष्टि उनकी थाह तक पहुंचती है और उसके कोमल संस्कार-सुलभ हृदय पर, उनका गहरा प्रभाव पड़ता है। स्थिति विशेष के सवेग प्रभाव से जन्म लेने वाले भाव में ही कथानक की प्रेरणा निहित रहती है। कथानक के आधारभूत इस भाव को अंग्रेजी में Theme अथवा Motive कहते हैं। अतः स्पष्ट है कि कथानक किसी एक मौलिक भाव, किसी एक रहस्य अथवा समस्या को लेकर आगे बढ़ता है। इस भाव को प्रस्फुटित करने, इस रहस्य को खोलने अथवा इस समस्या को सुलझाने के लिए कार्य-व्यापार का सृजन होता है। कार्य-कलापों के निर्वाह के लिए पात्रों

की सृष्टि की जाती है। घटनाएं और पात्र आपस में उलझते चले जाते हैं और इस प्रकार कथानक विकास की ओर अग्रसर होता है। लेखक की कुशलता इसी बात में है कि घटनाएं कथानक से और परस्पर पूर्ण रूप से सम्बन्धित हों। उनके विकास में स्वाभाविक अथवा असंभव अंशों का यथाशक्ति अभाव होना चाहिए। इस अन्विति के बिना भाव की एकता के लिए अभीष्ट प्रवाह की रक्षा नहीं हो सकती।

घटनाओं की स्वाभाविकता से अभिप्राय उस सरलता से नहीं है जिसके आधार पर पाठक घटनाओं के क्रम का स्वयं सोलह आने अनुमान कर सके। यदि एक घटना के बाद आने वाली दूसरी घटना ठीक पाठक की धारणा के अनुकूल ही आ रही है, तो इससे कहानी की रोचकता नष्ट हो जाती है। कहानी में कौतूहल का अंश अथवा आश्चर्य का तत्व आदि से अन्त तक बने रहना चाहिए।

कहानी का निर्वाह

कहानी का प्रारंभ विशेष रूप से आकर्षक होना चाहिए। जिस प्रकार कोई सुन्दर भवन भी, जिसका बाह्य द्वार-प्रदेश कुरूप हो दर्शक को भीतर प्रवेश करने के लिए निमन्त्रित नहीं करता, इसी प्रकार एक अच्छी कहानी भी, जिसका श्रीगणेश भद्दा है, पाठक के मन को आकृष्ट नहीं करती। आकर्षण के अतिरिक्त प्रारम्भ में कहानी के शेष शरीर के साथ पूरी संगति होनी

चाहिए, नहीं तो प्रारम्भ कहानी से पृथक्, असंबद्ध और कृत्रिम सा रहेगा।

कहानी प्रारम्भ करने के लिए कोई विशेष नियम नहीं है। एक प्रतिभावान् लेखक जिस किसी भी प्रकार से प्रारम्भ कर उसमें आकर्षण तथा चमत्कार भर सकता है। अधिकांश में कहानियाँ या तो किसी दृश्य अथवा घटना के वर्णन से प्रारम्भ होती हैं, या किसी पात्र के जीवन-परिचय से। पात्रों के परस्पर संवाद से भी कहानी का श्रीगणेश किया जाता है।

प्रारंभ के बाद घटनाओं का विस्तार होता है। यह विस्तार प्रासंगिक और मात्रा से अधिक बिलकुल नहीं होना चाहिए। पात्र भी कम-से-कम होने चाहिएं, बस उतने ही, जितने कि निश्चित भाव की अभिव्यक्ति के लिए परम आवश्यक हों। सभी घटनाएँ और पात्र मानों परस्पर होड़ लेते हुए तीव्र गति के साथ चरम सीमा की ओर बढ़ते हुए होने चाहिएं। अनावश्यक और अप्रासंगिक घटनाओं के लिए एक अच्छी कहानी में कोई स्थान नहीं। कला की दृष्टि से उस कहानी की ही समाप्ति अच्छी समझी जाती है जिसमें आकस्मिकता की मात्रा हो। कहानी के अन्त के साथ पाठक के कौतूहल की शांति नहीं हो जानी चाहिए। उसके हृदय में कुछ अभाव की-सी प्रतीति बनी रहनी चाहिए। 'इसके बाद क्या हुआ' के उत्तर के लिए पाठक स्वयं अपने भीतर झांकने लगे।

पात्र और चरित्र-चित्रण

चूंकि कहानी एक ही मौलिक भाव पर आधारित है इसमें नाटक की तरह पात्रों की न्यूनता अपेक्षित है। पात्र थोड़े होने चाहिएं, पर वे हों अवश्य सजीव और शक्तिमान्। उनमें परिस्थितियों के साथ लोहा लेने की पूर्ण क्षमता होनी चाहिए। जिस कार्य-व्यापार के लिए उनका सृजन हुआ हो उसके निर्वाह के लिए उनमें सामर्थ्य होनी चाहिए। सफल चरित्र-चित्रण के लिए मनोविज्ञान का ज्ञान बहुत जरूरी है। जिस लेखक में हर्ष, शोक, प्रेम और घृणा आदि नित्य भावों के विश्लेषण की जितनी सामर्थ्य होगी उतना ही वह अपने पात्रों में जीवन और शक्ति प्रदान करने में सफल होगा। पात्रों को सजीव बनाने के लिए उनके साथ एकरस होना पड़ता है। जिन स्थितियों और संकटों में से पात्रों को गुजारना अभीष्ट हो उनमें पहले अपने-आपको डालकर अपनी मानसिक प्रति-क्रियाओं का विस्तृत अध्ययन करना चाहिए। वाह्य जगत् के निरीक्षण के लिए भी लेखक की दृष्टि सूक्ष्म और पैनी होनी चाहिए। एक बात और भी—पात्र अवश्य संभव होने चाहिए। वे इसी मानव जगत् के, हमारी तरह मांस और रुधिर के प्राणी होने चाहिएं। कोरे आदर्शवादी अथवा टकसाली नहीं। केवल इसी अवस्था में हम उनके क्रिया-कलापों में आस्था रख सकते हैं और उनके प्रति समुचित समवेदना, प्रेम और घृणा का आवेदन कर सकते हैं।